साहित्य, ये सब उसके इतिहास की दस्तावेज़ें हैं। और इन्हीं की उपेक्षा की जा रही थी। परन्तु गत पचास वर्ष में भारत की राष्ट्रीय आत्मा फिर से जाग उठी है और उस जागरण के साथ भारतीय नेताओं की एक नई पीढ़ी प्रकट हो गई है।

भारत में दो प्रकार के मनुष्य हुए हैं। एक तो वे जिन्होंने उच्च संस्कृति, गम्भीर दार्शनिक-बुद्धि और वीरता एवं साहस के रोमाञ्चकारी उदाहरणों वाला अतीत का भारत बनाया था। दूसरे आज के वे मनुष्य हैं, जो अपने देश के इतिहास से शिक्षा लेकर, अतीत की अच्छी बातों को आधार बना कर, उस पर भविष्य का बृहत्तर भारत तैयार कर रहे हैं।

यद्यपि इस पुस्तक को भारत का इतिहास बनाने का यत्न नहीं किया गया, तो भी दो सहस्त्र वर्ष के दीर्घ काल में होने वाले भारत के महापुरुषों के जीवनों के अध्ययन से भारत के इतिहास और प्रगति का बहुत कुछ ज्ञान हुए बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार इस पुस्तक में दिए गये जीवन-वृत्तान्त भारत के इतिहास को प्रकाशित करने, वरन् विस्तार के साथ बताने का काम देते हैं।

गत-शताब्दियों पर दृष्टि डालने से उस आध्यात्मिक ऋण का कृतना कठिन नहीं रह जाता जो अतीत के इन महापुरुषों का भारत पर है। बुद्ध ने संसार को सब से बड़ा धर्म दिया। हिन्दू जाति पर नानक और दयानन्द का ऋण इतना अधिक है कि उसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

भारतीय राजाओं और सम्राटों के जीवन बड़े चित्ताकर्षक हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य, गुप्त राजाओं, और हर्ष का समय भारतीय इतिहास में

एक स्वर्णीय समय है। उसके बाद वैभवशाली भारत पर अन्तिम रूप से परदा गिर पड़ता है। राजपूत जाति की सारी वीर-गाथा राना प्रताप की कहानी में बंद है। वह देश की हारी हुई बाज़ी को जीतने के लिए अपने अन्तिम श्वास तक वीरता और उग्रता के साथ युद्ध करता रहा। फिर हम शिवाजी को रंगमंच पर अपना खेल खेलते देखते हैं। यदि उनके उत्तराधिकारी भी उनके समान ही योग्य होते, और वे भारत के पतन के मूल कारण को समझ कर उसको दूर करने का उपाय करते, तो शायद भारत का इतिहास आज कुछ और ही होता। इस सारे प्रभा-मण्डित सुन्दर दृश्य का अन्तिम खिलाड़ी रणजीतसिंह था। वह जब तक जीता रहा उसने अपने को और सिक्खों को विनाश से बचाया।

अतीत के कुछ महापुरुष ऐसे ही थे। समय ने सिद्ध कर दिया है कि उन में वास्तविक योग्यता थी। जब हम वर्तमान काल के महापुरुषों को लेते हैं तो हम देखते हैं कि यद्यपि उनके कार्य, उनकी शैलियाँ और उनके दृष्टिकोण एक दूसरे से बहुत ही भिन्न हैं, तो भी एक आधारभूत राष्ट्रीय भावना उन सब को मिला रही है। वे भिन्न भिन्न उद्देश्यो के लिए यत्नवान नहीं, वरन् उन सब के सामने केवल एक ही उद्देश्य है और वह है उनकी मातृभूमि, भारत। उनमें ऐसे मनुष्य हैं जिन्होंने वर्ण-भेद और मत-मतान्तर की प्रथाओं का परित्याग कर दिया है। ऐसे मनुष्य हैं जिन्होंने अपने विश्वास के लिए धन-दौलत पर लात मार दी है। ऐसे मनुष्य हैं जिन्होंने सांसारिक ख्याति की परवाह नहीं की। इन लोगो में बड़े बड़े वैज्ञानिक हैं, विद्वान् हैं, कवि हैं, लेखक हैं, विश्वविद्यालयों के संस्थापक हैं, राजा और बड़े बड़े

मन्त्री हैं। वे सब अपने-अपने ढंग से भारत के उत्थान के लिए कार्य कर रहे हैं।

अतीत के हों या वर्तमान काल के, भारतीय महापुरुष ऐसे हैं कि जिन पर संसार का कोई भी देश गर्व कर सकता है। इब्रानी धर्मोपदेशक के मन में ऐसे ही लोग थे जब उसने उपदेश दिया था—

"आइए, अब हम अपने प्रसिद्ध पुरुषों और अपने पिताओं का बखान करें जिन्होंने हम को जन्म दिया है। प्रभु ने उनमें आरम्भ से ही महान् तेज को. वरन् अपनी प्रबल शक्ति को अभिव्यक्त किया था। ऐसे लोग जिन्होंने अपने देशों में शासन किया, जो अपनी शक्ति के लिए, जो अपनी बुद्धि से लोगों को मन्त्रणा देने के लिए विख्यात थे, ऐसे लोग जो भविष्यवाणियों में सुसमाचार लाए थे, जो अपने शुभ परामर्शों के कारण लोगों के नेता थे, उनकी शिक्षा बड़ी बुद्धिमत्ता से भरी थी; ऐसे लोग जिन्होंने राग-रागिणियाँ बनाईं और कविताएँ लिखीं: योग्यता-मण्डित धनाढ्य लोग जो अपने निवास-स्थानों में शान्तिपूर्वक रहते थे, इन सब का उनके अपने अपने समय में सम्मान था, और अपने युग की वे शोभा थे।"

कृष्ण नगर—लाहौर

सन्तराम

भगवान् बुद्ध

(५६३ ई० पू० से ४८३ ई० पू० तक)

गौतम बुद्ध केवल महापुरुष ही नहीं थे, वे तो महापुरुषों के भी महापुरुष थे। आर्य जाति में गौतम बुद्ध के समान और कोई दूसरा आज तक उत्पन्न नहीं हुआ। संसार मे ऐसा कोई व्यक्ति नहीं उत्पन्न हुआ जो बराबरी करना तो दूर रहा, उनके पास फटक सके। उनके व्यक्तित्व की विशालता, महत्ता, वीरता और गम्भीरता को देख कर अनायास ही ज्ञात हो जाता है कि ये महापुरुष अपने बड़प्पन में हिमालय की उच्चतम चोटी से टक्कर लेते हैं। बुद्ध ने वास्तव मे मृत्यु पर विजय पाई और निर्वाण-पद के साथ ही साथ अमरत्व को अपना लिया। इसीलिए दिन पर दिन ससार भगवान् बुद्ध के बताए मार्ग पर चलने के लिए बाध्य हो रहा है।

कहते हैं, आज से २६०० वर्ष पहले नेपाल की तराई मे कपिल वस्तु नाम का एक राज्य था। उसके राजा का नाम शुद्धोदन था। वे राज्य के स्वामी न थे। उन दिनों कपिलवस्तु मे पञ्चायती राज्य था। उसी पचायत के सरपंच शुद्धोदन थे। उनके दो स्त्रियाँ थीं। एक का नाम महामाया और दूसरी का महाप्रजावती था। दोनों ही बहनें थीं। चालीस वर्ष की अवस्था तक शुद्धोदन के कोई सन्तान नहीं हुई। उसके बाद महामाया के गर्भ से गौतम बुद्ध का जन्म हुआ। जन्म भी घर मे नहीं हुआ। महामाया पति

के घर से मायके जा रही थी। मार्ग में लुम्बिनी वन पड़ता था। वहीं रानी विश्राम के लिए ठहर गई। थोड़ी देर के बाद पीड़ा आरम्भ हुई और एक शाल वृक्ष के नीचे भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ। जन्म के सात दिन बाद माता का निधन हो गया। मौसी विमाता रानी महाप्रजावती ने, माता की मृत्यु के बाद, बालक का पालन-पोषण किया।

भगवान् बुद्ध का वास्तविक नाम सिद्धार्थ था। जन्म के बाद ज्योतिषियों ने बताया कि बालक यदि घर में रहा तो चक्रवर्ती राजा होगा और घर छोड़ कर चला गया तो योगिराज कहलायगा। थोड़ी ही आयु में सिद्धार्थ ने विद्या प्राप्त कर ली। कहते हैं, धनुर्विद्या में वे इतने कुशल थे कि कपिलवस्तु का कोई व्यक्ति उनकी बराबरी नहीं कर सकता था। परन्तु क्या तो बाल्यावस्था मे और क्या युवावस्था में, वे बहुत ही गम्भीर रहते थे। सांसारिक बातों में उन्हे अधिक रुचि न थी। संसार दुःख से कैसे मुक्त हो, इसी उधेड़-बुन में वे व्यस्त रहते थे। सिद्धार्थ के समय में चारों ओर अशान्ति थी। प्रचलित धार्मिक विचारों और रूढ़ियों से लोगों की तृप्ति नहीं होती थी। पशु-बलि, यज्ञ और कर्म-काण्ड, इन से लोगों की श्रद्धा उठ गई थी। पुराने सोतों का पानी खारा मालूम होने लगा था। नये की खोज उस युग की विशेषता थी। आत्मा क्या है; संसार में दुःख क्यों है; ईश्वर है या नहीं: जन्म और मरण, रोग और बुढ़ापे का चक्र क्या सदा चलता ही रहेगा या उससे कभी मुक्ति भी सम्भव है? बुद्ध को बचपन से ही इन चिन्ताओं ने घेर रक्खा था। गृहस्थी में रहते हुए भी वे गृहस्थी

के न थे। घर मे थे परन्तु आँखों मे चाह थी वन की। कुटुम्बियों के वीच मे रहते थे, किन्तु चाह थी निर्जन की। विवाह हुआ, एक पुत्र भी हो गया। पत्नी का नाम यशोधरा था, पुत्र का राहुल। एक रात व्याकुलता इतनी वढी कि घर काटने लगा और घर वाले वैरी दिखाई देने लगे। वात यह है कि सिद्धार्थ जन्म से ही वन के पन्छी थे, गृहस्थी के पिंजड़े में वे कव तक वंद रह सकते थे। आधी रात को उठे, सोती हुई पत्नी और सोते हुए दुध-मुँहे वालक पर एक दृष्टि डाली और राजभवन के वाहर हो गये।

वाहर कंथक घोड़ा सजा खड़ा था। पास छन्दक सारथी था। घोड़े पर सवार हो और छंदक को साथ लेकर सिद्धार्थ चल पड़े। पैतालीस मील चलने के वाद अणोमा नदी के तीर पर पहुँचे। यहाँ पर वे घोड़े से उतर पड़े। उन्होंने राजकीय वस्त्र उतार कर फेक दिये और तलवार से केश काट डाले। छंदक और कंथक से विदा होकर वे वन मे विलीन हो गये। चलते चलते वे राजगृह पहुँचे। वहाँ उस समय राजा विम्विसार राज्य करते थे। अपने समय के प्रसिद्ध धर्माचार्यों और सिद्धों से सिद्धार्थ मिले। परन्तु उन्हें कहीं शान्ति न मिली। उस के वाद सात वर्ष तक उन्होंने निरन्तर घोर तपस्या की। तन सूख कर ठठरी हो गया। परन्तु जिस वस्तु की खोज में उन्होंने घर-वार छोड़ा था वह इतने घोर तप के वाद भी उनके हाथ न आई। तप इतना उग्र था कि वे अचेत हो गये। अन्त मे जव चेत हुआ तव उन्होंने इस उग्र तप की निस्सारता का अनुभव किया और उसी समय

उसे त्याग दिया। फिर निरञ्जना नदी में पहुँचे। वहाँ स्नान करने के पश्चात् किनारे पर एक पीपल के तले बैठ गये।

बैठे ही थे कि सुजाता नाम की अहीरिन ने उन्हें वन-देवता समझ कर खीर की भेंट चढ़ाई। इस खीर को खाने से उनके शरीर में बल आया। इस के पश्चात् वे समाधि लगा कर उसी पेड़ के नीचे बैठ गये। इस बार उनकी तपस्या सफल हुई। जिस बात की खोज के लिए वे घर से निकले थे वह उन्हें मिल गई। उन्हें जीवन-मरण का रहस्य मालूम हो गया। वे साक्षात् बुद्ध हो गये। उस घड़ी से सिद्धार्थ का नाम मिट गया। इस प्रकार सम्यक् सम्बुद्ध होकर भगवान् ने यह उदान कहा:—

अनेकजाति संसारं संधाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेस्सन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं॥
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खितं
विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा॥

अर्थ—इस भव-रूप संसार में अनेक जन्म लेकर मैं भ्रमण करता बराबर गृहकारक को ढूँढ़ता रहा और बार-बार जन्म लेने के दुःख को सहता रहा। किंतु अब मुझे गृहकारक दिखाई दिया और अब मुझे गृह करना शेष नहीं रहा। अब मेरे सब बंधन टूट गये। और गृह-रूपी शिखर चूर्ण हो गया। संसार की सभी वासनाओं का विनाश हो जाने से मेरा चित्त निर्वाण-पद को प्राप्त हो गया।

निरञ्जना नदी के तट पर बुद्धत्व लाभ होने के बाद वे

सारनाथ की ओर चले। वहाँ पहुँच कर अपने पूर्व-परिचित पाँच ब्रह्मचारियों को उन्होंने वह नया संदेश सुनाया जो उन्हे निरञ्जना नदी के किनारे पीपल के पेड़ के नीचे प्राप्त हुआ था। उस महा उपदेश का नाम है "धर्म-चक्र-प्रवर्तन-सूत्र"। इसी मे बुद्ध के सब सिद्धान्तों और उपदेशों का सार है। यही पाँच ब्रह्मचारी उनके पहले शिष्य हुए। धीरे-धीरे उनके शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी। साधु, संन्यासी और गृहस्थ बुद्ध के चरणों मे आकर उपदेश लेने लगे। राजभवन मे भी उनके उपदेशों की गूँज पहुँची। अनेक रानियाँ और राजा उनके सम्प्रदाय मे सम्मिलित हो गये। मगध के राजा बिम्बिसार, उनके पुत्र अजातशत्रु, और कौशाम्बी के राजा उदयन की रानी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

एक समय भगवान् राजगृह के लट्ठीवन मे विरामान थे। मगध के महाराज बिम्बिसार कई विद्वान ब्राह्मणों को साथ लेकर उनके दर्शनों को आये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने देखा कि मगध के महाविद्वान् तीन काश्यप, अपने शिष्यों सहित, प्रव्रज्या लेकर भगवान् के निकट बैठे है। राजा के साथ आए हुए ब्राह्मणों ने काश्यप-बन्धुओं से कौतूहल-पूर्वक पूछा—"विद्वान् ब्राह्मणो, आपने वैदिक अग्निहोत्र आदि किस लिए त्याग दिया है ?" उरुविल्व काश्यप ने कहा—"ब्राह्मणो,यज्ञों का फल केवल स्वर्ग-मात्र है, जो काम-सुख भोगों का स्थान है, परिवर्तन-शील तथा अनित्य है, उस की सहायता से जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु से छुटकारा नहीं मिलता; इसलिए मै उसे त्याग कर अमृत-

रूपी निर्वाण की प्राप्ति के लिए सम्यक् सम्बुद्ध की शरण में आया हूँ।"

यह सुनकर ब्राह्मणों को परम सन्तोष हुआ। दूसरे दिन भगवान् नगर के भीतर होकर राजप्रासाद की ओर भोजनार्थ चले। मार्ग में दोनों ओर दर्शक-दर्शिकाओं की भीड़ लग गई। भगवान की उज्ज्वल ज्योति, दिव्य लावण्य, सौम्य मूर्त्ति, प्रसन्न एवं करुणापूर्ण दृष्टि, आजानुलम्बित बाहु, विशाल वक्षःस्थल, उन्नत ग्रीवा, शान्त, विनीत गम्भीर एवं पीत-चीवर-वेष्टित स्वरूप के दर्शन करके अलौकिक आनन्द का उद्रेक होता था। आगे-आगे भगवान् थे, उनके पीछे उनके पीत-वस्त्रधारी शिष्यों की पंक्ति थी। महाराज बिम्बिसार ने राजपरिवार-सहित उनका भक्ति-गद्गद और प्रेम-विह्वल भाव से स्वागत किया।

भगवान बुद्ध का उपदेश सुनने के लिए धर्म-परायण लोग दूर-दूर से आते थे। कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन ने जब सुना कि राजकुमार गौतम ने अलौकिक जीवन प्राप्त किया है और उनके अमृतमय उपदेश को सुन कर सहस्र-सहस्र प्राणी पवित्र और प्रव्रजित हो रहे हैं तो उन्होंने भी भगवान् को अपने यहाँ निमन्त्रित किया। पहले तो वे आए नहीं, परन्तु बाद को उन्होंने मान लिया। जब वे कपिलवस्तु में पहुँचे तो तरह तरह से उनका पूजन और स्वागत किया गया। वहाँ वे न्यग्रोधाराम में ठहरे।

दूसरे दिन भगवान् बुद्ध शिष्यों सहित कपिलवस्तु नगर के भीतर जाकर घर-घर भिक्षा माँगने लगे। उनको इस प्रकार साधु-वेश में भिक्षा माँगते देख नगर में

हाहाकार मच गया। महाराज शुद्धोदन को बड़ा दुःख हुआ। वे अत्यन्त कातर स्वर से बोले—"बेटा, तुम घर-घर भीख माँग कर मुझे लज्जित क्यों करते हो? क्या तुम समझते हो कि मैं तुम्हे और तुम्हारी शिष्य-मण्डली को भोजन नहीं दे सकता?" बुद्ध ने कहा—"महाराज, भिक्षा माँग कर खाना हमारा कुल-धर्म है।" राजा ने विस्मित भाव से कहा—"बेटा, हम क्षत्रिय हैं। हमारे कुल मे कभी किसी ने भीख नही माँगी।" बुद्ध ने उत्तर दिया—"महाराज, मै अब राजवंश मे नहीं हूँ। मेरे पूर्व-पुरुष बुद्ध लोग है। बुद्ध लोग सदा से भिक्षा माँग कर ही भोजन करते आए है।"

यह सुनकर राजा शुद्धोदन विकल हो उठे। भगवान् बुद्ध ने उनको निर्वाण-धर्म का उपदेश किया और अन्त मे कहा—"पिता, उठो। आलस्य मत करो। सद्धर्म का आचरण करो। धर्म करने वाला इस लोक और परलोक दोनो मे सुख से रहता है।" उपदेश के बाद महाराज शुद्धोदन उनको राजभवन मे ले गये। वहाँ राजपरिवार के और सब लोग भगवान का उपदेश सुनने आये, परन्तु बुद्ध की पत्नी यशोधरा नहीं आईं। वह बोली—"यदि मुझ मे गुण है तो आर्य-पुत्र स्वयं मेरे पास आयँगे। आने पर ही वन्दना करूँगी।" अहा! जो एक दिन राजकुमार के रूप में उस राजभवन मे निवास करते थे, वही आज भिक्षु-रूप से उस में विराजमान है। कैसा मर्म-स्पर्शी दृश्य है! उस समय बुद्ध के शरीर से स्वर्गीय शोभा का विकास हो रहा था।

उपदेश देने के अनंतर भगवान् अपने दो प्रधान शिष्यों—सारिपुत्र और मौद्गलायन—के साथ यशोधरा के भवन में गये। तपस्विनी यशोधरा अपने प्राणनाथ को सिरमुँड़े, कषाय वस्त्र पहने, संन्यासी रूप मे आते देख दौड़कर उनके चरणों में गिर पड़ी और अपने तप्त अश्रु-जल से उनके चरणों को धोने लगी। फिर वह उठ कर अलग खड़ी हो गई।

महाराज शुद्धोदन ने राजकुमारी के स्नेह की प्रशंसा की। वे बोले—"जब से इसने सुना कि आपने कषाय वस्त्र पहने है, तभी से यह भी कषाय वस्त्र पहनती है। आप एक बार भोजन करते है, यह सुनकर यह भी एकाहारिणी हो गई है। आप ऊँचे पलँग पर शयन नहीं करते, यह सुन कर यह भी भूमि पर सोती है। माला, गंध और चंदन का स्पर्श नहीं करती। अहर्निश आप ही का ध्यान और आप ही की मंगल-कामना किया करती है। भगवन्, हमारी वहू इस प्रकार तपस्विनी होकर जीवन विताती है। आप इसे उचित उपदेश दे कर संतुष्ट कीजिये।"

यशोधरा की पवित्र चर्या सुनकर भगवान् संतुष्ट हुए और उसके पूर्व जन्म की कई कथाएँ सुनाकर उन्होंने उसे शान्ति प्रदान की।

एक समय भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में विराजमान थे। उनके प्रिय शिष्य आनंद नगर में भिक्षा के लिए गये। मार्ग में उन्हें प्यास लगी। एक कुएँ पर एक चाण्डाल-कन्या पानी भर रही थी। लड़की का नाम प्रकृति था। उससे आनन्द ने पानी माँगा। प्रकृति बोली—"हे भिक्षु, मैं चाण्डाल की लड़की हूँ। मैं आपको

कैसे पानी दे सकती हूँ ?" आनन्द ने कहा--"बहन, मैं कुल या जाति नहीं पूछता, मुझे पानी दो"। प्रकृति ने आनन्द को पानी दिया। पानी पीकर आनन्द चल दिये । प्रकृति को आनन्द के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई। फल यह हुआ कि प्रकृति को भगवान् बुद्ध के साक्षात् दर्शन प्राप्त हुए। भगवान् ने अनुकम्पा करके उसे धर्मोपदेश दिया और अपने भिक्षुणी-संघ मे सम्मिलित कर लिया।

इस समाचार को सुन कर श्रावस्ती के ब्राह्मणों ने वहाँ के राजा प्रसेनजित को भड़काया कि बुद्ध ने एक अछूत-कन्या को क्यों दीक्षा दी है। राजा ने भगवान् के निकट आकर इसकी चर्चा की। तब भगवान् बुद्ध राजा से इस प्रकार कहने लगे—"राजन्, त्रिशंकु चाण्डालों का एक राजा था। शार्दूलकर्ण उसका पुत्र था। वह बहुत सुन्दर था। उसने विधिवत् शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की थी। त्रिशंकु को अपने लड़के के लिए कन्या की आवश्यकता हुई। वह एक ब्राह्मण पुष्करसारि के पास गया और उससे उस की कन्या, अपने बेटे के लिए, माँगी । ब्राह्मण ने कहा—"तुम चाण्डाल हो। मैं ब्राह्मण हूँ। चाण्डाल चाण्डाल के साथ और ब्राह्मण ब्राह्मण के साथ नाता जोड़ते हैं। मुझ से यह अनुचित प्रस्ताव कर तुमने मेरा अपमान किया है।"

त्रिशंकु ने उत्तर दिया—'हे पुष्करसारि, ब्राह्मण और चाण्डाल दोनो एक ही योनि मे उत्पन्न होते है। ब्राह्मण कुछ आकाश से नहीं आते। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र केवल नाम हैं । ये मनुष्य के बनाए हैं। जिस प्रकार बालक सड़क पर खेलते हैं और मिट्टी से खिलौने बना कर आप ही उनके भिन्न भिन्न नाम रख

लेते हैं; किसी को खीर, किसी को दही, किसी को घी कहते हैं; परन्तु उन बालकों के कहने से वे खिलौने वैसे नहीं बन जाते; इसी प्रकार मनुष्यों के ब्राह्मण, क्षत्रियादि भिन्न भिन्न नाम लेने से उनमें कोई भेद नहीं हो जाता। उनके नाक, आँख, कान, मुख सब एक ही प्रकार के होते हैं। जैसा भेद गाय, घोड़े, गदहे, भेड़, बकरी आदि पशुओं की जातियों में एक दूसरे से पाया जाता है, वैसा भेद मनुष्यों के चार वर्णों में नहीं दिखाई देता। सब मनुष्य एक ही पिता परमेश्वर की सन्तान हैं। इसलिए वे एक दूसरे से भिन्न नहीं हो सकते।"

ऐसी ही बहुत सी बातें पुष्करसारि ने सुनीं, पर उससे उनका कोई उत्तर न बन पड़ा। अन्त में यह जानकर कि त्रिशंकु सब शास्त्रों का पूर्ण ज्ञाता है, उसने अपनी कन्या का विवाह उसके पुत्र शार्दूलकर्ण से पक्का कर दिया। आचार्य के इस निर्णय को सुनकर उसके ब्रह्मचारियों ने उससे कहा—"जब इतने ब्राह्मण पाये जाते हैं, तब आपका चाण्डाल से संबंध जोड़ना ठीक नहीं।" परन्तु पुष्करसारि ने उत्तर दिया—"जो त्रिशंकु कहता है वह ठीक है और मैं वैसा ही करूँगा।"

भगवान के मुख से यह कथा सुन कर महाराज प्रसेनजित् को बोध हो गया। वे बड़े ही आह्लादित हुए। उनका वर्णाभिमान का सन्देह दूर हो गया। वे भगवान् की चरण-वन्दना करके चले गये।

भगवान बुद्ध जाति-भेद के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा है—गङ्गा, यमुना प्रभृति बड़ी बड़ी नदियाँ अनेक

दिग्देशों में उत्पन्न होकर भी जैसे समुद्र मे मिल कर अपनी स्वतंत्र सत्ता और नाम खो देती है, वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि सब जातियों के मनुष्य सत्य-धर्म ग्रहण करते ही अपनी जाति और गोत्र खोकर एक हो जाते है। नाई उपालि नीच जाति का होने पर भी महापुरुष बुद्ध का दाहिना हाथ हो गया। नवीन धर्म के प्रभाव से वह शूद्र न रहा। वह परम साधु, अर्हत और सत्य धर्म का व्याख्याता होकर अत्यंत सम्मानित हुआ "थेर-गाथा" नामक पुस्तक मे एक थेर ने अपने मुँह से अपना जीवन-वृत्तान्त इस प्रकार कहा है—मेरा जन्म नीच-कुल मे हुआ था। मेरा व्यवसाय भी बुरा था। लोग मेरा अपमान करते थे। मैं सिर झुकाकर सब का सम्मान करता था। इसके बाद मैंने महानगरी मगध मे भिक्षुओं के साथ भगवान् बुद्ध देव का दर्शन किया। उनका दर्शन पाते ही मेरा चित्त भक्ति से झुक गया। मैंने सिर का बोझा फेंक कर उनके श्री चरण-कमलों में आत्म-समर्पण कर दिया। जब उन लोकमान्य ने मुझ पर दया की तब मैंने उनका अनुचर शिष्य होना चाहा। करुणामय प्रभु ने तुरन्त मुझे शरण देकर कहा—आओ साधु, मेरे साथ आओ।

बुद्धदेव के परिनिर्वाण का समय समीप हो आया। वे मृत्यु को गले लगाने के लिए तैयार हो बैठे, एक दिन उन्होंने बात ही बात में आनन्द से कहा—"आनन्द मेरी परिनिर्वाण-प्राप्ति का शुभ दिन निकट आ गया है।" यह सुन कर आनन्द का हृदय शोक से विदीर्ण हो गया। उसकी आँखों मे आँसू उमड आये। उसे शोकाकुल देख बुद्ध ने गम्भीर स्वर मे कहा—"आनन्द, क्या

तुम विश्वास खो बैठे ? क्या मैंने तुम से यह बात बार-बार नहीं कही है कि प्रिय वस्तु से लोगों का विच्छेद अवश्यम्भावी है ? जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु होगी ही। यही संसार की नियम है। इसलिए यह कैसे हो सकता है कि मैं अमर होकर इस मर्त्यलोक में सदा बैठा रहूँ ?"

"आनन्द, तुम लोग आप ही अपने अवलम्ब बनो। किसी दूसरे की सहायता की प्रत्याशा न करो। आप ही अपने लिए प्रदीप बनो। धर्म ही दीप है। उस दीप को दृढ़ हाथ से पकड़ो। सत्य को सहायक बना मुक्ति-मार्ग की खोज करो।"

जीवन-पर्यन्त वे वर्ष के आठ मास निरन्तर भ्रमण करने, उपदेश देने, और पीड़ित आत्माओं की वेदना दूर करने मे संलग्न रहे। उन्होंने करुणा का सागर बहा दिया और संसार पशु-बलि के पाप से घृणा करने लगा। कर्म का अर्थ ही उन्होंने बदल दिया। बाहरी कर्म-काण्ड के स्थान में उन्होंने अन्तःकरण की निर्मलता को रक्खा, और लोगों को बताया कि किसी देवी-देवता की उपासना से नहीं, वरन् आत्म-शुद्धि के द्वारा ही मनुष्य परमपद को प्राप्त कर सकता है। अन्त मे अस्सी वर्ष की अवस्था मे वैशाख के शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को कुशीनगर अथवा आधुनिक कसिया मे उनका निधन हुआ। उस दिन निर्मल ज्ञान की एक अद्वितीय ज्योति बुझ गई। विमल विवेक और सर्वथा निर्द्वन्द्व दृष्टि का खम्भा टूट पड़ा। वह तेज-पुंज, जिसका प्रकाश दिग्दिगन्त को और भविष्य की अगणित पीढ़ियों को आलोकित कर रहा था, सदा के लिए उसी अनन्त सागर के

गर्भ में समा गया जिससे वह निकला था। उस दिन ऐसे पुरुष का निधन हुआ जो बेजोड़ था, बेजोड़ है और बेजोड़ रहेगा, तब से जबसे सृष्टि का क्रम बँधा और तब तक जब तक सृष्टि का क्रम बँधा रहेगा।

सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य

(३२३ ई० पू०—२९९ ई० पू०)

चन्द्रगुप्त भारत का एक बहुत बड़ा सम्राट हो गया है। उस का साम्राज्य ब्रिटिश भारत से भी अधिक विस्तृत था। उस क सीमाएँ ईरान तक पहुँची हुई थीं। हिन्दूकुश, काबुल, हरात, कंधार, कलात, लासबेला, मकरान, बदखशाँ और पामीर सब उसके अधीन थे। चन्द्रगुप्त ने यूनानियों जैसे प्रबल शत्रुओं से भारत को मुक्त कराया। यही पहला सम्राट् था जिसने उत्तर भारत और विन्ध्याचल के परे दक्षिण भारत को मिलाया। इसी ने गंगा, यमुना और सिंधु की उपत्यकाओं को संयुक्त कर के एक साम्राज्य का रूप दिया।

चन्द्रगुप्त ने सन् ३२३ ईसा पूर्व से लेकर सन् २९९ ईसा पूर्व तक, अर्थात् २४ वर्ष राज्य किया। परन्तु इस थोड़े से समय में उसने बहुत बड़ा कार्य कर दिखालाया। उसके बाद उसका पुत्र बिन्दुसार गद्दी पर बैठा। उसने २५ वर्ष राज्य किया। उसके बाद, सन् २७४ ईसा पूर्व में, बिन्दुसार का बेटा अशोक सिंहासनारूढ़ हुआ।

चन्द्रगुप्त के जन्म के संबंध में नाना प्रकार की किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी माता एक नीच जाति की स्त्री थी। उसका नाम मुरा था। इसी से उनके वंश का नाम मौर्य पड़ा। परन्तु यह बात प्रामाणिक नहीं। बुद्ध के समय में मोरिय नाम की एक जाति थी। उसका एक छोटा सा-

संघ-राज्य हिमालय की तराई मे था। उसी 'मोरिय' का संस्कृत रूप 'मौर्य' है। चन्द्रगुप्त मुरा नाम की एक दासी का पुत्र था, यह कहानी पीछे से बना ली गई है। बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रन्थ महावंश में लिखा है कि चन्द्रगुप्त उसी मौर्य वंश का राजकुमार था। किसी शक्तिशाली राजा ने 'मोरिय' राज्य पर चढ़ाई करके वहाँ के राजा को मार डाला। राजा की रानी गर्भवती थी। वह वहाँ से भाग कर पुष्पपुर अर्थात् पाटलिपुत्र चली आई। उसके भाई भी साथ थे। पुष्पपुर मे उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। माता ने उसे एक गोपद्वार पर फेंक दिया। वहाँ चन्दो नाम का एक वृषभ उसकी रक्षा करने लगा। पीछे से एक गडरिए ने राजकुमार की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। चन्दो से ही उसका नाम चन्द्रगुप्त पड़ा। गड़रिए का एक शिकारी मित्र था। चन्द्रगुप्त जब कुछ बड़ा हुआ तब वह शिकारी उसे ले गया।

एक दिन चन्द्रगुप्त कई दूसरे लड़कों के साथ वन में पशु चरा रहा था। वहाँ लड़कों ने "राजकीय खेल" खेलना आरम्भ किया। चन्द्रगुप्त राजा बना, कुछ लडके पुलिस के सिपाही और कुछ चोर और डाकू बने। अपराधी पकड़े जाकर राजा के सामने पेश किए गये। दोनों पक्ष के वकीलों ने खूब बहस की। बहस सुनने के उपरान्त राजा ने आज्ञा दी कि अपराधियों के हाथ-पैर काट डाले जायँ। वधको ने कहा—"महाराज, हमारे पास कुल्हाड़ा नहीं, हम काटे कैसे ?" इस पर चन्द्रगुप्त बोला—"लकडी के डंडे के आगे बकरी के सींग बाँध कर कुल्हाडा बना लो।" उन्होंने वैसा ही किया। अपराधियो के हाथ-पैर काट

डाले गये। इस के उपरान्त चन्द्रगुप्त ने आज्ञा दी—"फिर जुड़ जायँ।" इस पर वे फिर जुड़ गये।

पाटलिपुत्र में एक ब्राह्मण रहता था। वह बहुत ही कुरूप, पर राजनीति, कूटनीति आदि अनेक विद्याओं में अतिशय निपुण था। उसका नाम विष्णुगुप्त चाणक्य था। वह तक्षशिला के एक ब्राह्मण का पुत्र था। पिता का देहान्त हो जाने पर वह अपनी माता का पालन-पोषण करने लगा। एक समय की बात है, उस की माता रो रही थी। चाणक्य ने उससे रोने का कारण पूछा। वह बोली—"बेटा, तुम्हारे भाग्य में छत्र धारण करना बदा है। राज्य पाकर लोग अपने माता-पिता को भूल जाया करते हैं। बेटा, क्या तुम भी मुझे भूल जाओगे? यदि तुम मुझे भूल जाओगे तो मेरी क्या दशा होगी, यही सोच कर मैं रो रही हूँ।" यह सुन चाणक्य बोला—"माता, आप कैसे जानती हैं कि मैं राजा बनूँगा? मेरे कौन से अङ्ग पर श्री अंकित है?" माँ ने उत्तर दिया—"बेटा तेरे दाँत पर।" इस पर चाणक्य ने अपना दाँत तोड़ डाला और खण्डदन्त होकर माता की सेवा करने लगा।

चाणक्य में जहाँ अनेक सद्गुण थे, वहाँ साथ ही वह बड़ा धूर्त्त भी था। मगध के राजा धननन्द से एक बार उसका अपमान हो गया। बस, चाणक्य ने राजा का गर्व तोड़ डालने का निश्चय कर लिया। वह दिन रात इसी चिन्ता में व्यग्र रहता था।

लड़कों के जिस राजकीय खेल का उल्लेख ऊपर हुआ है उसे चाणक्य भी खड़ा देख रहा था। इस खेल को देख उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने गाँव में आकर शिकारी से कहा कि मुझ

से एक सहस्र कार्षापण ले लो और मुझे यह वालक दे दो; मैं इसे सब कुछ सिखाऊँगा। शिकारी मान गया। चाणक्य चन्द्रगुप्त को तक्षशिला ले आया। सात आठ वर्ष अपने पास रख कर उसने उसे राजनीति और युद्ध-विद्या सिखाई। जब चन्द्रगुप्त ने होश सँभाला, तव चाणक्य ने अपना गुप्त कोष खोला और सेना एकत्र करना आरम्भ कर दिया। इस गुप्त-सेना का नायक उसने चन्द्रगुप्त को वनाया। साथ ही उसने धननन्द की प्रजा मे विद्रोह भी फैला दिया। परन्तु इस षड्यत्र मे उनको सफलता नहीं हुई। अन्त मे उन्हे देश छोड़कर भाग जाना पड़ा।

चन्द्रगुप्त एक समय एक किसान की झोंपडी मे छिपा हुआ था। किसान की स्त्री ने रोटी वना कर अपने पुत्र को दी। पुत्र ने रोटी का मध्य भाग तो खा लिया, पर उसकी कोर फेक दी और दूसरी रोटी माँगी। उस स्त्री ने हँसी-हंसी मे कहा—"बेटा, तू तो चन्द्रगुप्त के आचरण का अनुकरण करने लगा है।" लड़के ने पूछा—"माँ, मैंने क्या किया और चन्द्रगुप्त ने क्या किया था?" माँ ने उत्तर दिया—"बेटा, जैसे तूने रोटी की कोर फेक कर वीच का भाग खाया, उसी प्रकार चन्द्रगुप्त भी, विना किसी वाहरी प्रदेश के जीते, एक दम राजधानी पर जा टूटा। इसी कारण उस की सेना हार गई। यह उसका वड़ा भारी दोष था।" अपने कानों वुद्धिमत्ता की यह वात सुन चन्द्रगुप्त ने अपनी भूल का अनुभव किया। अव वह मगध को जीतने के नवीन उपाय सोचने लगा।

इस समय मकदूनिया देश के यवन-सम्राट् अलक्षेन्द्र (सिकंदर) ने सन् ३२७ ई० पू० मे भारत पर चढ़ाई की। वह

पंजाब के राजा पुरु का परास्त कर गङ्गा-तीरवर्ती प्रान्त की ओर अग्रसर हुआ। चन्द्रगुप्त और चाणक्य उसे मार्ग में ही जा मिले। अलक्षेन्द्र को मगध देश के महाराज धननन्द के धन और वैभव का समाचार सुना कर उन्होंने उसके हृदय में मगध देश जीतने की इच्छा बलवती की। उन्होंने उसे परामर्श दिया कि आप मगध देश पर आक्रमण कीजिए और धननन्द को पदच्युत कर चन्द्रगुप्त को अपना आश्रित राजा बनाइए। अलक्षेन्द्र इस काम को अपने बाएँ हाथ का काम समझता था। परन्तु चन्द्रगुप्त के ऐसे धूर्त विचार सुन उसे बड़ी घृणा हुई। उसे अतिशय कुपित देख चन्द्रगुप्त यवन छावनी से प्राण ले भागा। अब अलक्षेन्द्र ने अपने सेनानायकों को एकत्र कर मगध देश पर आक्रमण करने के विषय में उनसे परामर्श किया। परन्तु उन लोगों का मन न पाकर वह अपने देश को सन् ३२५ ई० पू० में लौट गया। रास्ते में ही उसकी मृत्यु हो गई।

अलक्षेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य टुकड़े टुकड़े हो गया। थोड़े ही दिन के उपरान्त यूडीमोस नामक एक यवन सरदार ने राजा पुरु का वध कर डाला। यह देख कर पंजाब प्रान्त की हिन्दू-प्रजा ने बड़ा उपद्रव उठाया। चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों असाधारण कर्तृत्ववान, दृढ़व्रती और प्रतिभाशाली थे। वे दोनों एक साथ एक ही धंधे में लगे थे। उन्होंने राजविप्लव का यह उत्तम अवसर हाथ से नहीं जाने दिया।

पंजाब में उस समय कई छोटे-छोटे गण-राज्य थे। पंजाबी लोग बड़े साहसी और योद्धा थे। अलक्षेन्द्र से अपनी स्वतंत्रता

की रक्षा न कर सकने का उनका कारण केवल यह था कि उन मे कोई अच्छा नेता नहीं था, संगठन नहीं था, आदेश एक नहीं था, और वे अपनी शक्तियों को संघटित नहीं कर पाते थे। अलक्षेन्द्र ने अकेले अकेले रजवाड़े को आसानी से जीत लिया। ये सब बहुसंख्यक रजवाडे अपने सब के शत्रु से टक्कर लेने के लिए संयुक्त न हो सके।

चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने पंजाबियों की इस वीरता और साहस से लाभ उठाने का निश्चय किया। पंजाब की इस उत्तम सामग्री को सुव्यवस्थित और सुसंगठित कर स्वतंत्रता के संग्राम में लड़ने वाली सेना तैयार करना वे जानते थे। उन्होंने लुटेरो की एक बड़ी सेना संगठित की और पंजाब-प्रवासी यूनानी कर्मचारियों को मारकर भगा दिया। पंजाब ने चन्द्रगुप्त का ऐसा पुरुषार्थ देख उसे अपना नेता स्वीकार कर लिया। अब चन्द्रगुप्त एक बड़ी सेना के साथ धीरे धीरे पूर्व की ओर बढने लगा। मार्ग में जो भी राज्य पड़े उन सब को अपने अधीन कर अन्त मे वह मगध देश की सीमा पर जा पहुँचा।

इधर मगध मे एक नया ही नाटक हो रहा था। महापद्म नामक एक नापित-कुमार अपनी प्रेयसी मगध-देश का रानी की सहायता से, राजवंश का नाश करके, स्वयं राजा बन बैठा था। इस लिए मगध की सारी प्रजा उससे असन्तुष्ट हो रही थी। महापद्म के पास कई लाख सेना थी। परन्तु चन्द्रगुप्त की सेना से उसकी चतुरङ्गिणी सेना हार गई। वह आप भी लड़ाई मे मारा गया। अब चन्द्रगुप्त मगध के सिंहासन पर बैठा। उसने कई दूसरे राजाओं

को हरा कर चक्रवर्ती राजा बनने की अपनी महत्वाकांक्षा को पूरा किया। चाणक्य उसका प्रधान अमात्य बना। नन्द राजा का एक मंत्री राक्षस नाम का था। उसने उसके बाद भी चन्द्रगुप्त के विरुद्ध विद्रोह कराने के लिए अनेक प्रयत्न किए। किन्तु चाणक्य की चतुराई से वे सब निष्फल हुए।

अलचेंद्र के पीछे यूनानी साम्राज्य के कई टुकड़े हो गये थे। उन में से समूचा पश्चिमी और मध्य एशिया उसके सिल्यूकस निकेटर नामक सेनापति के भाग में पड़ा। अपना राज्य दृढ़ करके उसने भी, अलचेंद्र की तरह, भारत पर चढ़ाई करने का दृढ़ संकल्प किया। वह एक बड़ी सेना लेकर विजय का डंका बजाता हुआ सिंधु नदी पर पहुँचा। वहाँ चन्द्रगुप्त की सेनाओं से उसका युद्ध हुआ। इस युद्ध में उसकी पूर्ण पराजय हुई। अन्त में उसने विवश होकर चन्द्रगुप्त से संधि कर ली।

इस संधि के अनुसार सिल्यूकस ने हिन्दूकुश से दक्षिण के सब प्रदेश चन्द्रगुप्त को दे दिये। इस के बदले में चन्द्रगुप्त ने सिल्यूकस को ५०० हाथी दिए और एक यवन दूत अपनी राजधानी में रखने की प्रतिज्ञा की। इस दूत का नाम मेगस्थनीज था। चन्द्रगुप्त के समय का बहुत सा वृत्तान्त इसी के लेखों से प्राप्त हुआ है। वह चन्द्रगुप्त की राज-सभा में पाँच वर्ष रहा था। इस संधि को पक्का करने के लिए सिल्यूकस ने अपनी पुत्री का विवाह भी चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया था।

चंद्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र गंगा और सोन के संगम पर उस जगह थी जहाँ आजकल पटना नगर बसा हुआ है।

उसका घेरा साढ़े इक्कीस मील का था। इसकी रचा के लिए इसके गिर्द लकड़ी का एक बड़ा भारी परकोटा था। उसमें चौंसठ फाटक थे और ५७० बुर्ज बने हुए थे।

नगर के गिर्द ६०० फुट चौड़ी और ३० हाथ गहरी खाई थी। उसे सोन के जल से भर दिया जाता था। राज-प्रासाद बागीचों और तालाबों के बीच बना था। वह लकडी का था और उस पर सोना चढा हुआ था। नगर के प्रबंध के लिए प्रजा स्वयं ३० मनुष्यों की एक सभा नियुक्त करती थी। उस सभा के पाँच पाँच मनुष्य बँट कर छः छोटे छोटे वर्ग बन जाते थे। वे एक एक विभाग की देख-रेख करते थे।

चन्द्रगुप्त को रथों की दौड, साँडों, मेढों तथा हाथियों का लड़ाना, और आखेट बहुत पसंद थे। जब वह शिकार पर जाता था तो उसका रास्ता दोनों ओर से रस्सों से घेरा जाता था। उसके चारों ओर स्त्रियों का पहरा रहता था। उस रस्से के भीतर जाने वाले को प्राण-दण्ड दिया जाता था। राज-सभा दिन में एक बार लगा करती थी और वह साँझ तक न्यायालय में बैठा रहता था।

मेगस्थनीज कहता है कि लोग, व्यवसाय की दृष्टि से, आठ श्रेणियों में बँटे थे। (१) तत्व-ज्ञानी, अर्थात् ब्राह्मण। ये लोगों के लिए और राजा के लिए यज्ञ किया करते थे। (२) किसान (३) चरवाहे और शिकारी, (४) व्यापारी, शिल्पकार और नाविक, (५) शस्त्र बनाने वाले और जहाज बनाने वाले, जो केवल राजा के लिए काम करते थे। राजा का सागर-सेनापति

लोगों को माल और मुसाफिर ढोने के लिए जहाज किराए पर देता था। (६) सैनिक। इनको शान्ति-काल में भी वेतन मिलता था। (७) निरीक्षक। इन का एक भेदिया-विभाग था। ये देश में होने वाली घटनाओं की सूचना राजा को दिया करते थे। (८) राजा के सचिव। इन्हीं लोगों में से मजिस्ट्रेट, जिलाध्यक्ष, कोपाध्यक्ष, प्रान्तीय शासक, सेना-निरीक्षक, सागर-सेनापति, और कृपि के तत्वावधायक बनाए जाते थे।

चन्द्रगुप्त के समय में शिक्षा-प्रणाली इस प्रकार थी—

नेता लोग तत्वज्ञानी कहलाते थे। इनमें ब्राह्मण और श्रमण दोनों थे। ब्राह्मण विद्यार्थी गुरु के निकट रह कर ३७ वर्ष बिताते थे। वे नगर के समीप किसी उपवन मे रहते थे। वे पत्तों के बिछौने और खालों पर सोते थे। बहुत थोड़े में निर्वाह करते थे। ब्रह्मचर्य का पालन करते थे, मांस नहीं खाते थे, और विचार-विनिमय किया करते थे। श्रमण लोग वनों मे फल-फूल खाकर रहते थे; वल्कल पहनते थे, और सदा ज्ञान-ध्यान मे निमग्न रहते थे। ये संन्यासी थे। इनमे से कई तत्वज्ञानी दवा-दारू से नहीं वरन् केवल खान-पान को ठीक कर के लोगों की चिकित्सा करते थे। इनके अतिरिक्त एक और श्रेणी भी थी। ये प्रामाणिक कहलाते थे। ये बुद्धिवादी लोग थे। ये याज्ञिक लोगों पर हँसा करते थे। नववर्ष-दिवस पर राजा सब तत्वज्ञानियों को बुला कर सभा किया करता था। उन से देश के सुधार के विषय में परामर्श लिया जाता था। उपयोगी और उत्तम युक्तियाँ बताने वालों को पुरस्कृत किया जाता था।

अशोक

(शासन-काल २७३ ई० पू० २३२ ई० पू०)

अशोक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का पोता और राजा बिन्दुसार अमित्रघात का पुत्र था। वह ईसा से २७३ वर्ष पूर्व गद्दी पर बैठा था। उसने अपने बाप-दादा के राज्य को बहुत बढ़ाया। जितनी विशाल भूमि महाराजा अशोक के शासनाधीन थी उतनी अन्य किसी भी भारतीय राजा के अधिकार में नहीं रही। कहें तो कह सकते हैं कि इस दृष्टि से अशोक भारत का सब से बड़ा सम्राट था। उसने सुदूर सीता (यारकन्द) नदी के किनारे खुतन प्रदेश में भी एक भारतीय बस्ती बसाई थी।

अशोक के संबंध में अनेक प्रकार की कथाएँ प्रसिद्ध हैं। कहते हैं, राजा बिन्दुसार की सोलह रानियाँ और एक सौ एक पुत्र थे। इन पुत्रों में सुसीम सब से बड़ा और तिष्य सबसे छोटा था। अशोक तीसरा पुत्र था। वह तिष्य का सगा भाई था। राजा बिन्दुसार ने अशोक को पश्चिमी भारत का प्रान्तीय शासक बना रक्खा था। जब अशोक ने सुना कि राजा बिन्दुसार बहुत अधिक बीमार है तो उसने अपनी राजधानी उज्जैन से एकदम पाटलिपुत्र की ओर कूच कर दिया। पाटलिपुत्र में पहुँच कर उसने अपने छोटे भाई तिष्य के सिवा शेष सब भाइयों को मार डाला। इस प्रकार अपने ९९ भाइयों का संहार कर राजसिंहासन प्राप्त किया।

'दिव्यावदान' नामक ग्रन्थ में अशोक के जन्म के संबंध में एक विचित्र कथा दी गई है। उसमें लिखा है कि राजा

बिन्दुसार के समय में चम्पा नगरी मे एक ब्राह्मण रहता था। उसकी लड़की बहुत ही सुन्दर 'दर्शनीया, प्रासादिका और जनपद-कल्याणी' थी। पूछने पर ज्योतिषियों ने बताया कि इस लड़की का पति राजा होगा और इसके दो पुत्र होंगे; एक पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् होगा और दूसरा वैरागी होकर 'सिद्धव्रत' हो जायगा।[३] यह भविष्यवाणी सुन ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ। रुपये के लालच से वह लड़की को लेकर पाटलिपुत्र चला आया। वस्त्रा-भूषण से अलंकृत कर उसने लड़की को बिन्दुसार की पत्नी बनने के लिए उपहार-रूप से दे दिया। जब वह अन्तःपुर में गई तो उस का रूप-लावण्य देख रानियाँ डरीं। उन्होंने सोचा कि यदि राजा ने उसको अपनी पत्नी बना लिया तो फिर वह हमारे साथ बात भी न करेगा। इस लिए उन्होंने लड़की को नाई का काम सिखाया। जब राजा सोता तो वह उसके केशों और मूँछों को सँवारती। एक दिन राजा उससे बहुत प्रसन्न हुआ और उसे कोई वर माँगने को कहा। लड़की ने कहा—"मैं आपकी पत्नी बनना चाहती हूँ।" राजा ने कहा—"मैं नाइन को रानी कैसे बना सकता हूँ!" लड़की बोली—"मैं नाइन नहीं; मैं तो ब्राह्मण की लड़की हूँ। नाई का काम तो मुझे आप की स्त्रियों ने सिखाया है।" यह सुन राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उसको अपनी पटरानी बना लिया। नौ मास पीछे पटरानी को एक लड़का उत्पन्न हुआ। उसका नाम अशोक रक्खा गया। कारण यह कि रानी ने कहा कि इस के जन्म से मेरा शोक जाता रहा है।

अशोक "दुःस्पर्शगात्र" था, अर्थात् उसके स्पर्श से सुख नहीं

प्राप्त होता था। इसलिए राजा का उस पर प्रेम नहीं था। वह अशोक को राज्य नहीं देना चाहता था। इस लिए उसने पिङ्गलवत्साजीव नाम के एक परिव्राजक को कुमारों की परीक्षा लेने को कहा। परिव्राजक अशोक को राजपद के योग्य समझता था। परन्तु राजा के डर से वह यह बात अपने मुँह से न कह सका। पर उसने अशोक की माता से कह दिया कि तेरा पुत्र ही राज्याधिकारी होगा। यह सुन पटरानी ने पिङ्गलवत्साजीव को पाटलिपुत्र छोड़ कर कहीं दूसरी जगह चले जाने का परामर्श दिया ताकि कहीं राजा क्रुद्ध होकर उसे मरवा न डाले। रानी की बात मान कर पिङ्गलवत्साजीव सीमावर्ती जनपदों में चला गया।

विन्दुसार अपने बड़े पुत्र सुसीम को राज्य देना चाहता था। परन्तु उस के मंत्री सुसीम को नहीं चाहते थे। उन्होंने तक्षशिला में विद्रोह करा दिया। राजा ने विद्रोह को दबाने के लिए सुसीम को वहाँ भेजा। पीछे राजा का देहान्त हो गया। अशोक ने उज्जैन से आ कर सिंहासन पर अधिकार जमा लिया। यह सुन सुसीम बहुत कुपित हुआ। वह राज्य लेने के लिए पाटलिपुत्र की ओर लौटा। परन्तु अशोक के मंत्री खल्लाटक ने धोखे से उसे मार डाला।

अपने राज्य के बारहवें वर्ष में अशोक ने कलिङ्ग देश पर चढ़ाई की। कलिङ्ग देश बङ्गाल की खाड़ी के तट पर महानदी और गोदावरी के बीच के प्रदेश (उड़ीसा) का नाम था। वह उस समय का एक अत्यंत शक्तिशाली राज्य था। कलिङ्ग लोग बड़ी

वीरता से लड़े। एक लाख मारे गये, डेढ़ लाख वंदी हुए और कई लाख पीछे अकाल और रोग आदि से मर गये। कलिङ्ग देश अशोक के अधीन हो गया। पर युद्ध की घटनाओं ने अशोक के हृदय को वदल दिया। अशोक ने तव दिग्विजय के वजाय धर्म-विजय की राह पकड़ी।

अशोक के हृदय-परिवर्तन के संवंध में एक और भी विचित्र कहानी प्रसिद्ध है। पुराणों में जैसे नरक का वर्णन है, अशोक ने दोपियों को दण्ड देने के लिए वैसा ही एक नरक पृथ्वी पर वनवाया था। उसमें वैसा ही नीली लपटों वाला अग्नि-कुण्ड, वैसे ही लोहे की दाढ़ों वाले साँप और विच्छू, वैसे ही लोहे के पुरुप और लोहे की स्त्रियाँ थीं। इस नरक का वाहरी भाग इतना सुन्दर था कि उसे जो भी देखता वह उसके भीतर जाने के लिए लालायित हो उठता। उसके भीतर पहले तरल अग्निमय वैतरणी थी। इसके वाद इसकी भिन्न भिन्न कोठरियों में नाना प्रकार की यन्त्रणाओं का आयोजन था। चण्डगिरिक नामक एक निष्ठुर मनुष्य, हाथ में लोहे का डंडा लेकर, मगध की प्रजा को नरक-भोग कराता था। राज्य में हाहाकार मच रहा था। लोगों का चीत्कार सुनकर अशोक आनन्दित होता था।

एक दिन एक भिक्षु 'नरक' के निकट होकर जा रहा था। भिक्षु का मस्तक मुँड़ा था, वह कपाय वस्त्र पहने था और उसके हाथ मे भिक्षा-पात्र था। उसके मुख पर शान्ति विराजमान थी। जीवों के हित के लिए उसके शान्त, उज्ज्वल नेत्रों से करुणा की ज्योति निखर रही थी। चण्डगिरिक ने भिक्षु को वाँह से पकड़

लिया और कहा—"तुमने नरक की राह ली है । इस रास्ते से आने से सब को नरक भोग करना पड़ता है। महाराज का यह आदेश है।

भिक्षु ने कहा—कल्याण हो! बहुत अच्छा।

चण्डगिरिक ने भिक्षु को नरक मे लाकर तपे हुए तेल की कड़ाही मे छोड दिया। वह भिक्षु उस कड़ाही मे बैठकर धीरे धीरे गाने लगा—

"धर्मं शरणं गच्छामि ।
संघं शरणं गच्छामि,
बुद्धं शरणं गच्छामि।"

यमदूतों ने उसको वहाँ से उठाकर नीली लपट वाली अग्नि मे फेका। परन्तु भिक्षु के शीतल स्पर्श से वह आग बुझ गई। बहुत दिनों से लहराती हुई ज्वाला शीतल हो गई। यह देख भय और विस्मय से विह्वल होकर चण्डगिरिक भागता हुआ अशोक के पास पहुँचा और जो घटना हुई थी वह सब उसे कह सुनाई। अशोक तुरन्त भिक्षु के निकट आकर पूछने लगा—"क्या तुम्ही ने मेरे नरक की आग बुझाई है?"

भिक्षु ने कहा—"आग बुझाने की शक्ति मुझ मे कहाँ है। जिन्हों ने सब जीवों के दुःख की ज्वाला निवारण की है उन्हीं तथागत (बुद्ध) ने तुम्हारे नरक की ज्वाला बुझा दी है । मंगल हो, महाराज।"

भिक्षु का मुख-मण्डल बडा ही शान्त, बड़ा ही करुणा-मंडित था। उसकी बाते सुन कर अशोक के हृदय मे मानो तूफान सा आ

गया। वह सोचने लगा, भिक्षु का मुख कैसा शान्त, कैसा ममता-पूर्ण है। अपने कार्यों के लिए अशोक को अनुताप हुआ। वह बोला—"अब मैं नरक नहीं चाहता। मैं जगत में दुःख लाया था; मैं जीवों को सता कर आनन्द पाता था; आज से इस दुष्कर्म को मैं छोड़ता हूँ। यदि मुझ से हो सकेगा तो मैं अब जीवों का क्लेश दूर कर अपने पापों का प्रायश्चित्त करूँगा।"

एक दिन की बात है, स्निग्ध प्रभात की शीतल वायु धीरे धीरे बह रही थी। वाटिका के फूलों से मधुर गंध छूट रही थी। उपवनों में कलकण्ठ विहङ्ग मधुर स्वर से गा रहे थे। जगत् शान्त, रमणीक, करुणापूर्ण था। ऐसे समय में पाटलिपुत्र के राजप्रासाद के निकट के रास्ते पर एक सात बरस की अवस्था का बालक, भिक्षु, कषाय वस्त्र पहने, हाथ में भिक्षा-पात्र लिए, गाते-गाते जा रहा था—

अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मता॥

अर्थात् अप्रमाद अमृत का पथ है और प्रमाद मृत्यु का। जो अप्रमत्त हैं वे नहीं मरते, जो प्रमत्त हैं वे मानो मरे हुए हैं।

नृपति अशोक झरोखे में बैठे राजपथ की ओर देख रहे थे। बालक भिक्षु के मधुर कण्ठ की यह मधुर वाणी सुनकर उनका चित्त अमृत का पथ प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठा। उन्होंने भिक्षु को अपने पास बुलाया और कहा—"भिक्षु, राजपथ में तुम जो कुछ गा रहे थे, फिर गाओ।" बालक उसी प्रकार आवृत्ति कर गया।

अशोक ने पूछा—"अमृत के पथ पर कैसे जाते हैं?"

बालक—"जीव के प्रति मैत्री तथा करुणा करके—जगत के कल्याण का उपाय करके। महाराज, मैं बालक हूँ। आप मथुरा से स्थविर उपगुप्त को बुला कर पूछिए। वे अमृत का पथ बता देंगे।"

अशोक ने संमानपूर्वक उपगुप्त को बुलाया और उनके चरणों पर गिर कर अमृत-पथ दिखाने की प्रार्थना की।

उपगुप्त बोले—महाराज, जीव के प्रति मैत्री तथा करुणा ही अमृत का पथ है। यही मनुष्य को मंगल देता है। इस मैत्री तथा करुणा के विस्तार से आप के सब पापों का प्रायश्चित्त होगा। कहिए—

धर्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।
बुद्धं शरणं गच्छामि॥

उपगुप्त की दीक्षा से अशोक को नवजीवन लाभ हुआ। अब उसने "अशोक" नाम का परित्याग करके अपना नाम "प्रियदर्शी" रक्खा।

कलिङ्ग-विजय के बाद अशोक के मन में भारी 'अनुशोचन' हुआ। उसने अनुभव किया कि "जहाँ लोगों का इस प्रकार वध, मरण और देश-निकाला हो, वहाँ जीतना न जीतने के बराबर है।" उसने निश्चय किया कि अब वह ऐसी विजय न करेगा। अपने बेटों-पोतों के लिए भी उसने यह शिक्षा लिख दी कि वे "नई विजय न करें। जो विजय बाण खींच कर ही हो सके,

उसमे भी क्षमा और लघुदण्डता से काम लें। धर्म के द्वारा जो विजय हो उसी को वास्तविक विजय समझें।"

अशोक ने केवल अपने प्रदेश में ही नहीं वरन् एक ओर चोल, चेर, पाण्ड्य और सिंहल मे, और दूसरी ओर पड़ोस एवं दूर के सब यूनानी राज्यों में मनुष्यों और पशु-पक्षियों के लिए चिकित्सालय बनवाए, धर्म-प्रचारक भेजे और रास्तों पर पेड़ लगवाये। इन यूनानी राज्यों के नाम अशोक ने अपने लेखों मे दिये है। इन से प्रतीत होता है कि समूचे मध्य और पश्चिमी एशिया, मिस्र, उत्तरी अफरीका और यूनान तक अशोक के ये धर्म-विजय के कार्य फैले हुए थे।

पिता बिन्दुसार के राज्यकाल में अशोक उज्जैन का शासक था। वहाँ उसने देवी नाम की एक सुन्दरी श्रेष्ठि-कन्या से विवाह किया था। इस पत्नी के गर्भ से उसे एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्र का नाम महेन्द्र और पुत्री का संघमित्रा था। अशोक ने पुत्र और कन्या को बौद्ध धर्म की विविध नीति-कथाओं की शिक्षा दिलाई। धर्म के विस्तार के लिए उसने दस कोटि सुवर्ण मुद्रा व्यय कर चौरासी सहस्र बौद्ध-विहार निर्मित कराए। जिस दिन उन्होंने जान लिया कि उनका संकल्पित चौरासी सहस्र विहार का निर्माण-कार्य समाप्त हो गया, उसी दिन उन्होंने राज्य मे घोषणा कर दी कि हमारे राज्य मे महादानोत्सव संपन्न किया जावेगा।

राजा ने दान-सभा का विराट् आयोजन किया। दान-यज्ञ बड़े समारोह के साथ संपादित हुआ। भिक्षु और भिक्षुणीगण

सम्राट के प्रति प्रसन्न होकर उनको आशीर्वाद देने लगे। सम्राट अशोक ने ज्ञानवृद्ध, महातापस भिक्षु और भिक्षुणियों से पूछा—कहिए, मैं किस प्रकार का दान करूँ जिससे मैं बौद्ध धर्मावलम्बियों में श्रेष्ठ दानशील समझा जा सकूँ ?

भिक्षु-संघ का प्रधान नेता, महास्थविर तिष्य बोला—"जिस ने धर्म के लिए पुत्र या कन्या का उत्सर्ग कर दिया है, या जो कर सकता है, वही बौद्ध धर्म का प्रधान एवं प्रकृत पोषक है।"

उस महास्थल में संघ-मित्रा और महेन्द्र उपस्थित थे। सम्राट ने महास्थविर से कहा कि ऐसा ही हो, मैं बौद्ध धर्म के लिए अपने पुत्र महेन्द्र एवं कन्या संघमित्रा का उत्सर्ग करता हूँ। इस पर सहस्र सहस्र नर-नारियों के कण्ठ से ध्वनित हो उठा—

बुद्धं शरणं गच्छामि,
धर्मं शरणं गच्छामि,
संघं शरणं गच्छामि।

महाराज अशोक की इस अपूर्व दानशीलता पर सभी मुग्ध हो शत शत साधुवाद करते हुए प्रस्थान कर गये।

बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण करने को उपसंपदा कहते हैं। संघ-मित्रा ने यह उपसंपदा ग्रहण कर ली। वह राजप्रासाद छोड़ मठ में जाकर रहने लगी। उसकी धर्म-निष्ठा, इन्द्रियसंयम, धर्मोपदेश एवं महान आदर्श से धनी व्यक्तियों की कन्याएँ भी उसके पद-चिन्हों पर चलने लगीं। अन्त में महास्थविर तिष्य के उपदेश से संघमित्रा ने भ्राता महेन्द्र सहित बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए सिंहल द्वीप को प्रस्थान किया।

ससार के इतिहास में कदाचित् अशोक ही एक ऐसा सम्राट् है जिस ने धर्म-प्रचार के लिए अपनी सन्तान का इस प्रकार उत्सर्ग किया। जब महेन्द्र और संघमित्रा सिंहल में पहुँचे तो वहाँ के राजा तिष्य ने उनका हृदय से स्वागत किया। वह उन्हें अपने राजप्रासाद मे ले गया। संघमित्रा के समधुर उपदेश सुन कर सिंहल की महिलाओं के दल के दल आकर बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने लगे। सिंहल राज्य में सर्वत्र धर्म का स्रोत प्रवाहित हो उठा। वहाँ की राजकुमारी अनुला और उसकी पाँच सौ सहचरियों ने संघमित्रा के आदर्श से बौद्ध धर्म की दीक्षा लाभ की।

एक दिन सिंहल-नृपति और उनकी कन्या दोनों संघमित्रा से कहने लगे—"देवि, जिस बोधि वृक्ष की शान्त, शीतल छाया के नीचे भगवान् बुद्ध ने दिव्य ज्ञान लाभ किया था, आप यदि सिंहल मे लाकर उस पवित्र वृक्ष की एक शाखा को बोने की व्यवस्था करे, तो इससे इस देश का परम कल्याण साधित होगा। संघमित्रा के लिखने पर अशोक ने बोधि-वृक्ष की एक शाखा स्वयं काट कर बंगाल के ताम्रलिप्ति (तामलूक) बन्दरगाह से जहाज मे सिंहल भेजी। यह शाखा अनुराधपुर मे लगाई गई।

अशोक ने कोई इकतालीस वर्ष राज्य किया। उसने बहुत से भवन बनवाए और पहाड़ी चट्टानों एवं पत्थर के खम्भों पर लेख खुदवाए। इन खम्भों में से बहुत से अब तक भी वर्तमान हैं। चट्टानों पर के लेख पेशावर और हजारा जिले में, काठियावाड़ और उड़ीसा में और देहरादून से मैसूर और हैदराबाद तक मिले हैं। लेखों वाले मुख्य स्तम्भ छः हैं। ये दिल्ली, प्रयाग और चम्पा-

रन ज़िले में हैं। ये स्तम्भ कारीगरी के अद्भुत नमूने हैं। प्रत्येक चालीस पचास फुट ऊँचा और एक ही पत्थर में से काटा हुआ है। इनकी पालिश की चिकनाई और चमक भी ज्यों की त्यों बनी है। ये सब मिर्ज़ापुर-चुनार के पत्थर के हैं। ये वहीं से सब जगह भेजे गये थे। दिल्ली में फ़ीरोज़शाह के कोटले पर अशोक का जो स्तम्भ लगा है, उसे फ़ीरोज़शाह तुगलक अम्बाला के पास से वहाँ उठवा लाया था। इस एक खम्भे को रस्सी से खेंचने के लिए ८४०० मनुष्य लगे थे। केवल डेढ सौ मील ले जाने के लिए भारी प्रबंध करना पड़ा था। अशोक के इञ्जनियरों ने उन्हें चुनार से इतनी दूर कैसे भेज दिया, यह कुछ कम अचरज की बात नहीं। उन खम्भों के ऊपर जो सिंह आदि की मूर्त्तियाँ हैं, वे भी बहुत बढ़िया कारीगरी की हैं।

तुलसीदास

(सन् १५३२—१६२३)

भारत का काव्य-रूपी-आकाश-मण्डल अगणित प्रभा-पूर्ण जुगनुओं से देदीप्यमान है। पर तुलसीदास का तेज, उज्ज्वलता और चमत्कार, उनकी प्रदीप्ति, कान्ति और कीर्ति कुछ और ही है। वह इस आकाश-मंडल के असंख्य चमकीले तारों के बीच मध्याह्न-कालीन प्रचण्ड मार्तण्ड के समान प्रकाशमान है। वह भारत के एक अद्वितीय, अतुलनीय और अनुपम कवि हैं। उनकी बराबरी कोई कवि न कर सका है, और न कर सकता है। इस कवि-सम्राट का आसन लाखों नहीं, करोड़ों नर-नारियों के हृदय-मंच पर है। अँगरेज़ी साहित्य में जो स्थान महाकवि शेक्सपियर का है, उससे कहीं ऊँचा स्थान हम हिन्दी साहित्य में तुलसीदास को देते है। क्यों न दें ? वे चरित्रहीन, कोरे कवि नहीं थे, वे अद्वितीय चरित्रवान, कवि-सम्राट, परम उच्च श्रेणी के महात्मा, और धर्म एवं नीति के पथ-प्रदर्शक थे।

भारत मे इनकी रामायण की पुनीत कथा घर-घर सुनाई देती है। गिरिराज हिमालय से लेकर कन्या कुमारी तक, अटक से लेकर कटक तक इनकी कीर्ति-ध्वनि निरन्तर गूँज रही है। संसार की सभी सभ्य भाषाओं में रामायण का अनुवाद हो गया है। अँगरेज़ी भाषा में ग्रिफ़िथ महाशय का पद्यात्मक अनुवाद बड़े महत्त्व का है।

रामायण-काव्य की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। भावों की गम्भीरता, आध्यात्मिक तत्त्वों का सरल विवेचन, धार्मिक और नैतिक उपदेशों की उत्कृष्टता, लेखन-शक्ति का चमत्कार, चरित्र-चित्रण की अलौकिक शक्ति; प्राकृतिक दृश्य-वर्णन की अद्वितीय योग्यता, कहाँ तक कहे, एक आदर्श काव्य मे जो जो गुण होने चाहिएँ, वे सब रामायण मे हैं। तुलसीदास जी के संबंध में श्री अयोध्यासिंह जी हरिऔध का कथन बहुत ही उपयुक्त है—

राम-चरित-सरसिज-मधुप, पावन-चरित नितान्त;
जय तुलसी-कवि-कुल-तिलक, कविता-कामिनी-कान्त।
सुरसरि-धारा-सी सरस, पूत परम रमनीय,
है तुलसी की कल्पना कल्पलता कमनीय।
जबलों कविकुल कल्पना करै कलित आलाप,
अवनि लसत तब लों रहै तुलसी-कीर्ति-कलाप॥

तुलसीदास के जन्म आदि के संबंध मे निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। जनश्रुति तथा दूसरे आधारों पर इतना ही कहा जा सकता है कि उनका जन्म बाँदा जिले के राजापुर ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम हुलसी था। इनका पहला नाम तुलाराम था। बाद को यही तुलसीदास हो गया। इनकी जन्म-तिथि के संबंध मे एक दोहा इस प्रकार लिखा मिलता है—

पंद्रह सै चौवन विषै, कालिन्दी के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ शरीर॥

इसके अनुसार इनका जन्म संवत् १५५४ में होता है। फिर इनकी मृत्यु के विषय में भी एक दोहा है—

संवत सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर॥

इसमें उनका निधन संवत् १६८० बताया गया है इस। प्रकार उनकी आयु १२६ वर्ष की आती है। परन्तु डा० ग्रियर्सन उनका जन्म संवत् १५८६ मानते हैं।

कहते हैं जब इनका जन्म हुआ तो ये प्रायः पाँच वर्ष के बालक मालूम होते थे। भूमि पर गिरते ही इन्होंने राम-नाम का उच्चार किया। वे पूरे १२ मास माता के पेट में रहे। इनके पूरे ३२ दाँत भी माता के गर्भ में ही जम आए थे। बालक को देखते ही सब लोग उसे राक्षस समझ डर से काँप उठे। एकादशी को-प्रातःकाल प्रसव-पीड़ा से हुलसी का देहान्त हो गया। हुलसी की दासी मुनिया बालक को लेकर हरिपुर चली गई।

जब बालक ६५ दिन का हुआ तो साँप काटने से मुनिया का भी देहान्त हो गया। तब स्वामी नरहरियानन्द बालक को अवधपुरी में ले गये। उन्होंने उसका नाम "रामबोला" रक्खा और उसे पाणिनी-सूत्र आदि पढ़ाया। फिर स्वामी नरहरियानन्द अयोध्या से शूकर क्षेत्र (सोरों) को आ गये। वहाँ उन्होंने अपने शिष्य को रामायण की कथा सुनाई। राम चरित में इसी का उल्लेख नीचे दिए दोहे में किया गया है।

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा जो सूकर खेत
समुझी नहि तस बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥

वहाँ से स्वामी जी काशी आ गये। काशी में श्री शेष सनातन की सेवा मे १५ वर्ष रह कर तुलसीदास जी ने सब वेद, शास्त्र पुराण आदि पढ़े। शेष सनातन की मृत्यु के उपरान्त वे राजापुर आ गये। वहीं रत्नावली नाम की एक लड़की के साथ इनका विवाह ज्येष्ठ शुक्ला १३ गुरुवार संवत् १५८३ को हुआ।

कहते हैं, अपनी पत्नी पर इनकी आसक्ति इतनी बढ़ी कि वे उसे एक क्षण के लिए भी अलग न करते थे। एक दिन उन की स्त्री मौका पाकर अपने भाई के साथ मायके चली गई। तुलसीदास प्रेम-विह्वल हो वर्षा की भयावनी रात्रि मे, नदी पार कर, ससुराल जा पहुँचे। स्त्री ने खीझ कर कहा—

लाज न लागत आपु को, दौरे आयहु साथ।
धिक-धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहहुँ मैं नाथ।
अस्थि-चरममय देह मम, तापै जैसी प्रीति।
तैसी जो श्री राम महँ, होत न तो भवभीति॥

पत्नी के ये वचन तुलसीदास को ऐसे लगे कि वे तुरन्त घर-द्वार छोड़ कर विरक्त हो गये। उस समय उनकी अवस्था ३५ वर्ष की थी और उन्होंने केवल ६ ही वर्ष गृहस्थ में विताए थे। उनके हृदय में प्रेम का प्रबल प्रवाह बह रहा था। अब तक उनका झुकाव स्त्री की ओर था परन्तु इस जरासी बात से वह उधर से हटकर श्री राम की ओर झुक गया। गोस्वामी जी ने स्वयं ही एक जगह कहा है—

"हम तो चाखा प्रेम-रस पत्नी के उपदेश"

इसी प्रेम-प्रवाह ने अनंतकाल के लिए इन्हें अजर अमर बना दिया। भक्तमाल के रचयिता नाभादास ने उनके संबंध में जो छप्पय लिखा है वह बहुत ही उपयुक्त है। वह इस प्रकार है—

कलि कुटिल जीव-निस्तार-हित वालमीकि तुलसी भयो।
त्रेता काव्य-निबंधकरी सत कोटि रमायन।
इक अक्षर उद्धरे ब्रह्महत्यादि परायन॥
अब भक्तन सुख देन बहुरि लीला-विस्तारी।
राम चरण-रस-मत्त रटत निसि दिन व्रतधारि॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लयो।
कलि कुटिल जीव-निस्तार-हित वालमीकि तुलसी भयो॥

वैराग्य लेने पर गोसाईं जी ने मुख्य मुख्य तीर्थों की यात्रा की। पीछे आकर कई वर्षों तक चित्रकूट में वास किया। यहीं उन्होंने 'राम गीतावली' और 'कृष्ण गीतावली' की रचना की। इसके अनंतर अयोध्या में रहकर "नौमी भौमवार मधुमासा" संवत् १६३१ को इन्होंने अपनी अमर कृति राम चरित मानस की रचना आरंभ की। उन्होंने इसे दो वर्ष ७ मास २६ दिन में अर्थात् संवत् १६३३ मार्गशीर्ष में समाप्त किया।

तुलसीदास यद्यपि संस्कृत के बहुत अच्छे विद्वान् थे, पर उन्होंने अपनी सारी रचनाएँ लोक-भाषा में ही कीं। उनके ग्रन्थों की लोकप्रियता का एक यह भी बड़ा कारण था। संस्कृत के पंडितों ने उन्हें इसके लिए ताने भी दिए, परन्तु गोसाईं जी का मत था :—

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच।
काम जो आवे कामरी, का लै करै कुमाँच॥

तुलसीदास के समय हिन्दी की दो उपभाषाओं—ब्रज और अवधी ही—में प्रायः कविता होती थी। कविता लिखने की अनेक शैलियाँ थीं। अपने समय की इन दोनों उपभाषाओं और सब शैलियों मे इन्होंने कविता की है। इनकी प्राय सारी कविता राम पर ही आश्रित है। राम के चरित-को ही इन्होंने भिन्न-भिन्न शैलियों मे गाया है। इनके ग्रंथ निम्नलिखित हैं—

१. रामचरितमानस, २ विनय पत्रिका, ३ गीतावली, ४. दोहावली, ५. कवित्त रामायण, ६ रामाज्ञा, ७ रामलला नहछू, ८. वरवै रामायण, ९. जानकी मंगल, १०. वैराग्य संदीपनी, ११. पार्वती मगल, १२. कृष्ण गीतावली १३. राम सतसई, १४. हनुमान वाहुक।

इनमें से रामचरित-मानस सबसे बड़ा और सबसे प्रसिद्ध है। इसमे इन्होंने अपने प्रभु रामचद्र के लोक-संग्रह-कारी रूप का चित्रण किया है। मानव रूप धारण कर प्रभु ने मर्यादा के स्थापन के लिए जो-जो कार्य किए, जो जो कष्ट सहे, उनका विशद वर्णन इसमे हुआ है। इसके साथ ही आत्म-बलिदान करने वाली दशरथ की सत्य-परायणता, भरत का संन्यास, लक्ष्मण की भ्रातृ-भक्ति, हनुमान का सेवा-धर्म, सीता का सतीत्व, मंथरा की कुटिलता, कैकेयी का तिरिया-हठ आदि चित्र उस कथानक की श्री को द्विगुणित कर रहे हैं। राम के चरित में उन्होंने हिन्दू धर्म का सच्चा स्वरूप अन्तर्निहित किया है। धर्म

और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिए राजा-प्रजा, ऊँच-नीच, द्विज-शूद्र आदि सामाजिक सूत्रों के साथ माता, पिता, गुरु, भाई, आदि पारिवारिक संबंधों का कैसा निर्वाह होना चाहिए जीवन के इन सब सरलतम और जटिलतम प्रश्नों का बड़ा ही सुंदर विवेचन इस ग्रंथ में मिलता है। यही कारण है कि आज सैकड़ों बरस बाद भी भारत के विस्तृत भूभाग में करोड़ों व्यक्तियों द्वारा रामचरितमानस जीवन की सब समस्याओं को समाधान करने वाला और अत्यंत कल्याणकारी ग्रंथ माना जाता है। राजा और रंक, शिक्षित और अशिक्षित, गायक और कवि, भिक्षुक और संन्यासी, सबके गले का वह हार होगया। त्यागियों ने उसमें त्याग का आदर्श पाया; विरक्तों ने उसे वैराग्य का सोपान समझा; धार्मिकों ने उसमें धर्म की प्रतिष्ठा देखी; ब्रह्मचारियों ने उसमें ब्रह्मचर्य की महिमा प्राप्त की; भक्तों ने उसे भक्ति का निर्मल दर्पण माना तथा गृहस्थों ने उसमें आदर्श गृहस्थी का सर्वांगपूर्ण चित्रण पाया। सारांश यह कि इसमें हिन्दू-आदर्शों, हिन्दू-भावों, हिन्दू के संस्कृति तथा धर्म के भिन्न-भिन्न अंगों का अनूठा सामंजस्य मिलता है। यही कारण है कि जो स्थान संस्कृत में वेद और गीता आदि का है वही स्थान हिन्दी में 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' रामचरितमानस का कहा जा सकता है। इतिहासज्ञ स्मिथ महोदय तो यहाँ तक कहते हैं कि "इस ग्रंथ का ईश्वरवाद ईसाई धर्म से इतना मिलता जुलता है कि उसमें से बहुत से प्रसंग राम के स्थान पर ईसु रखने से ईसाइयों के लिए उपयोगी हो सकते हैं।" संस्कृतज्ञ ग्रियर्सन महोदय का कहना है कि इसके अनेक पदों

को किसी भी प्रार्थना-सग्रह में स्थान मिल सकता है। महात्मा गांधी तक इसको पढ कर शान्ति-लाभ करते हैं।

धार्मिक आदर्श को छोड़कर काव्य की दृष्टि से भी रामचरित-मानस अद्वितीय ग्रंथ है। क्या भापा, क्या भाव, क्या सूक्ति, क्या छंद सब दृष्टियों से इस जैसा ग्रंथ मिलना कठिन है। अवधपति रामचंद्र की गुणगाथा के वर्णन के लिए ग्रन्थ मे अवधी भापा का प्रयोग किया गया है। ऋतु और विपय के वर्णन के अनुसार भापा वदलती जाती है। 'घन घमंड नभ गरजत घोरा' में यदि उमड़ते घुमडते वादलो की गरज सुनाई देती है, तो 'चातक कोकिल कीर चकोरा, कूजत विहंग नाचत मन मोरा' में शब्द स्वयं ही नाचने और कूजने लगते हैं और 'गए क्रुद्ध जुद्ध विरुद्ध रघुपति त्रोनसायक कसमसे' मे साक्षात् युद्ध का वर्णन दिखाई देता है।

इस भापा-चमत्कार के अतिरिक्त मनुष्य की प्रत्येक स्थिति के लिए लाभदायक भावपूर्ण सूक्तियाँ स्थान-स्थान पर मिलती है,—"हुई है वही जो राम रचि राखा" में यदि भाग्यवाद है तो कायर मन कह एक अधारा दैव दैव आलसी पुकारा मे पुरुपार्थवाद है। 'पराधीन सपने सुख नाहीं' और 'सबते अधिक जाति अपमाना' मे स्वाधीनता तथा जाति प्रेम का मार्मिक चित्रण है तो 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी सो नृप अवस नरक अधिकारी में अत्याचारी राजा को उपदेश दिया गया है। अलंकार-योजना स्थान स्थान पर इतनी स्वाभाविक तथा स्तुत्य है कि देखते ही बनती है। भगवती सीता

राम के साथ वन को जाना चाहती हैं, राम उनको मना करते हुए कहते हैं—

हंस-गवनि,तुम नहिं वन जोगू, सुनि अपजस मोहि देइहिं लोगू।
मानस-सलिल-सुधा-प्रतिपाली,जिअइ कि लवन-पयोधि मराली
नव रसाल वन-विहरन-सीला, सोह कि कोकिल विपिन करीला
रहहु भवन अस हृदय विचारी, चंदवदनि दुखु कानन भारी।

इस पर वे मर्माहत होकर उत्तर देती हैं:—

जिअ विनु देह, नदी विनु वारी; तैसिअ, नाथ, पुरुष विनु नारी
नाथ, सकल सुख साथ तुम्हारे; सरद-विमल-विधु-वदन निहारे
छिनछिन प्रभुपद कमल विलोकी;रहिहूँ मुदित दिवस जिमि कोकी
प्रभु, करुणामय परम विवेकी; तनु तजि रहति छाँह किमि छेकी?
प्रभा जाय कहँ भानु विहाई ? कहँ चन्द्रिका चन्द्र तजि जाई ?

ऐसे अमूल्य ग्रंथ को लिख कर तुलसीदास सदा के लिए अमर हो गये। इस एक ग्रंथ ने उन्हें सब कवियों में शीर्ष-स्थान पर बिठा दिया है।

तुलसीदास का दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ विनयपत्रिका है। विनय-पत्रिका रागरागिनियों में लिखा हुआ विनय के पदों का संग्रह है। इसका विषय इसके नाम से ही स्पष्ट है। गोसाँई जी ने राम के दरबार में जो प्रार्थना-पत्र भेजा है, वही छन्दों में लिखा गया है। विद्वानों का मत है कि इस ग्रथ में गोस्वामी जी की कविता, पांडित्य, उक्ति-वैचित्र्य सभी कुछ पराकाष्ठा को पहुँच गया है। किन्तु उनका यह अमूल्य ग्रंथ सर्व-साधारण की संपत्ति नहीं है। सर्व-साधारण की चीज़ बनने का श्रेय तो सबसे अधिक राम-

चरित मानस को ही प्राप्त है। कृष्ण गीतावली को छोड़ कर तुलसीदास के अन्य प्रायः सब ग्रथों में रामायण की कथा ही भिन्न-भिन्न छंदों और भिन्न-भिन्न शैलियों मे कही है।

गोस्वामी जी केवल कवि ही नहीं सूक्ष्म विचारक, दूरदर्शी और महात्मा भी थे। हिन्दू समाज मे उनसे पहले मत-मतांतरों की कमी नहीं थी। शैवों और वैष्णवों का आपस मे रोज झगड़ा रहता था। इस झगड़े को गोस्वामी जी ने अपनी उदार भावना से दूर किया। उनके रामचरितमानस की कथा कहने वाले शिव है और राम के मुख से उन्होंने स्पष्ट कहलाया—
'शिव द्रोही मम दास कहावै, सो नर सपनेहु मोहि न भावै।
कलियुग के वर्णन द्वारा उन्होने उन बुराइयो की ओर संकेत किया जो समाज मे फैल गई थीं।

ऐसा कहा जाता है कि पत्नी द्वारा तिरस्कृत होने के कारण गोसाँई जी ने स्त्रियों को बहुत बुरा-भला कहा है, नारी-समाज को बड़े कटु शब्दों मे स्मरण किया है, जो उन जैसे महात्मा को शोभा नहीं देता। जैसे—

विधिहु न नारि-हृदय गति जानी;
सकल कपट अघ अवगुण-खानि।

किष्किंधा काण्ड मे वर्षा-वर्णन का प्रसंग आया है वहां भी बलात् उन्होंने नारी को ला घुसेड़ा है:—

महा वृष्टि चलि फूटि कियारी।
जिमि स्वतंत्र है बिगरहिं नारी।

इसी प्रकार

शूद्र गँवार, ढोल पशु नारी. ये सब ताड़न के अधिकारी आदि पंक्तियाँ मिलती हैं। पर सारा रामचरितमानस पढ़ने के बाद उन पर नारी-निंदा का दोष लगाना कठिन हो जाता है। तुलसीदास जी ने तो अपनी पत्नी का उपकार माना है, कि उसके उपदेश से उन्हें आत्मज्ञान हुआ। उन्होंने जहाँ स्त्री की निंदा की है, वहाँ उसके वासनात्मक रूप की की है। जहाँ पत्नीत्व, मातृत्व, और देवीत्व का प्रसंग आया है, वहाँ उन्होंने उसकी शतमुख से प्रशंसा की है। यदि स्त्री-जाति की निंदा करना ही उन्हें अभीष्ट होता तो वे सीता, सती अनुसूया और सुमित्रा की अवतारणा कैसे कर सकते।

तुलसीदास एक दीन-हीन और अनाथ व्यक्ति थे, उनकी माता जन्मते ही उन्हें छोड़ कर चल बसी, उनके पिता का भी देहान्त हो गया, उनके पालने वाली दासी भी अधिक दिन न बच सकी, लोगों ने उन्हें अशुभ या राक्षस माना था और वे इधर उधर दूसरों के टुकड़ों पर पले थे। फिर भी उन्होंने इतनी प्रतिष्ठा लाभ की कि जब तक हिन्दी साहित्य और हिंदू जाति जीवित रहेगी, तब तक उनकी कीर्ति अमिट रहेगी। प्रसिद्ध अंगरेजी इतिहासज्ञ विन्सेंटस्मिथ ने उनके बारे में लिखा है कि "यह कवि हिन्दी कविता-कानन में सबसे बड़ा वृक्ष है। उनका नाम न तो आईन-ए-अकबरी में मिलेगा और न मुसलमान इतिहासकारों के वर्णन से तैयार की हुई किसी योरोपीय लेखक की पुस्तक में। तो भी वे अपने समय के भारत के सर्वश्रेष्ठ पुरुष थे। यहाँ तक कि उन्हें अकबर महान से भी बड़ा कहा

जा सकता है। लाखों स्त्री-पुरुषों के हृदयों पर उन्होंने जो विजय प्राप्त की वह उस बादशाह की जीती हुई बहुसंख्यक लड़ाइयों से अधिक चिरस्थायिनी है। उनकी इस अमरकीर्ति और प्रतिष्ठा का कारण उनकी अचल राम-भक्ति थी। इस अनन्य भक्ति ने उनकी वाणी को शक्तिशालिनी बना दिया था, उसमें प्राण फूँक दिया था। वे अपनी सफलता का एक मात्र कारण यह मानते थे कि उनकी कविता का विषय रामचन्द्र जी का विमल यश है। इसी के कारण वह भक्तजनों को प्रिय लगेगी। उनका कहना है कि जिस प्रकार पवन के साथ धूल भी ऊपर चढ जाती है इसी प्रकार रामचन्द्रजी के सुयश के कारण उनकी फीकी वाणी 'सर्व-गुण विभूषिता' बन जावेगी। 'वे सियाराममय सब जग जानी' के पोषक थे और एक राम से ही नाता निबाहना चाहते थे। राजरानी मीरा को जब उनके घरवालों ने अत्यधिक कष्ट दिया और उसने गोस्वामी जी से पूछा कि उसे ऐसे समय में क्या करना चाहिए, तो गोस्वामीजी ने उसे लिख भेजा था—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए ताहि कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही।

राम के यश ने उनकी कविता को बल दिया, और उन्होंने मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का चरित हिन्दू जाति के सामने ऐसे समय रखा जब कि वह मुसल्मानों के आतंक से हताश तथा घबराई हुई थी इससे हिन्दू जाति को बल मिला। अतएव हम यह कहने को बाध्य होते हैं कि कविवर तुलसीदास प्रत्येक दृष्टि से हिन्दी

साहित्य के लिए हिन्दू जाति के लिए ईश्वरीय देन थे। उन्हीं की कृपा का फल है कि हम आज हिन्दू-जाति को उसके वर्त्तमान रूप में देख रहे हैं, उन्हीं की विभूति से आज हिन्दी अपना मस्तक उठाकर भारत की अन्य भाषाओं के सामने अपनी महिमा प्रदर्शित कर सकती है। संसार के किसी महाकवि ने अपनी भाषा, अपनी जाति और अपने राष्ट्र को जो कुछ दिया है, तुलसीदास ने उससे कहीं अधिक हिन्दी भाषा और हिन्दू जाति को दिया है। अपने इस महाकवि के ऋण से हम कभी उऋण नहीं हो सकते। अंत में हम मिश्रबंधुओं के शब्दों में यही कहेंगे—

हिन्दी, हिन्दू, हिन्द-नाम जब लौं जग राजै।
तब लौं तुलसीदास-सुजस महि-मंडल गाजै।
सत-कविता-सतकार जहाँ लौं यहि संसारा।
ऋषिवर को परताप तहाँ लगि टरै न टारा॥
तुम शेक्सपियर, होमर तथा दांते हू सों हो अधिक।
जय-जय तुलसी, जय जय नमः, राम-भगति-रस के रसिक।

महाराना प्रताप

(शासन-काल सन् १५७२–१५९७)

सम्राट अकबर की इच्छा भारत मे एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने की थी, परन्तु इसके लिए वह केवल बाहुबल को ही पर्याप्त नहीं समझता था। वह भारत मे बसने वाली विभिन्न जातियों मे बेटी-व्यवहार को प्रचलित करके उनको एक राष्ट्र का रूप देना चाहता था। उसका मत था कि सब धर्म और सम्प्रदाय एक ही गन्तव्य स्थान के विभिन्न मार्ग है।

भारत मे इस विचार के मूल प्रवर्तक अकबर के पूर्ववर्ती भक्त एवं सन्त लोग थे। वे बहुदेववाद और धर्मान्धता के विरुद्ध थे। उन्होंने भारत मे एक नई ही परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी। इस परिस्थिति की आदर्श उपज अकबर था। वह एक ऐसा साम्राज्य स्थापित करना चाहता था जिसमे हिन्दू और मुसलमान दोनों समान रूप से भागीदार हों। इससे राजनीतिक पराधीनता मे जो पीड़ा और पराजय मे जो कटुता रहती है वह सब निकल जाती है। अकबर ने अम्बेर की राजकुमारी के साथ विवाह करके राजपूतो के साथ रक्त-सम्बंध स्थापित किया। परतु मुगलों और राजपूतों के मिश्रण मे एक बड़ी बाधा थी। मेवाड के सीसोदिया वंश ने अकबर द्वारा प्रतिपादित और अम्बेर द्वारा समर्थित साम्राज्य-नीति का घोर विरोध किया। मुगलो के साथ बेटी-व्यवहार को वे अपने कुल को कलंकित करना समझते थे।

मेवाड़-भूमि इतिहास मे वीरों और वीराङ्गनाओं की जन्म-भूमि मानी जाती है। यह सुन्दर प्रदेश अरावली की पहाड़ियों मे स्थित है, इसमें जगह जगह पहाड़ी नाले हैं । अनेक स्थलों में प्रचुर हरियाली है। मीलों तक वन ही वन चले गये हैं । ऐसी भौगोलिक स्थिति ने वहाँ के निवासियों को परिश्रमी, बलवान और कष्ट सहन करने मे समर्थ बना दिया है। सोलहवीं शती में वहाँ की राजधानी चित्तौड़ थी।

मेवाड़ के राजपूत बड़े वीर थे। अपनी जाति की मान-रक्षा के लिए वे प्राण तक देने के लिए सदा उद्यत रहते थे। भाट और चारण आज तक उनकी वीरता के गीत गाते नहीं थकते। मेवाड़ के पुरुषों ने ही नहीं, स्त्रियों ने भी अपनी वीरता से संसार को चकित किया है। परन्तु बड़े दुर्भाग्य की बात यह थी कि जिस समय दिल्ली और आगरा के सिंहासन पर अकबर जैसा महाबली और नीतिमान शासक विराजमान था उस समय चित्तौड़ की गद्दी पर एक बहुत ही अयोग्य व्यक्ति बैठा था।

राना प्रताप का पिता उदयसिंह सन् १५३७ में गद्दी पर बैठा। उसमें योग्य राजा का एक भी सद्गुण न था। वह कदाचित् अपने उस सुरक्षित पहाड़ी दुर्ग में निश्चिन्त पड़ा रह कर ही सारा जीवन बिता देता, परन्तु अकबर समूचे राजस्थान को अपने साम्राज्य में मिला लेने की कल्पना तैयार कर रहा था। सन् १५६२ में अम्बेर के राजघराने के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित करने के उपरान्त अकबर ने राजा भगवानदास के भतीजे राजा मानसिंह को उच्च पदाधिकारी बनाकर मित्रता की गाँठ को और भी

दृढ़ कर लिया था। अब उसने मेवाड़ की ओर रुख किया। बप्पा रावल के वंशज होने से मेवाड़ के राना राजपूतों में सब से श्रेष्ठ माने जाते थे। उनके पराजित होने का प्रभाव दूसरे राजाओं पर पड़ना अवश्यम्भावी था। इसके अतिरिक्त, चित्तौड़ और रणथंभौर जैसे दुर्गों के हाथ आ जाने से समूचे उत्तर भारत पर उनका अधिकार हो सकता था।

सन् १५६७ में अकबर की सेना ने मेवाड की ओर कूच किया। अकबर की चढ़ाई का समाचार पाते ही उदयसिंह भाग कर पहाड़ों में जा छिपा। दुर्ग की रक्षा का भार उसकी भावज मीरा बाई के चचेरे भाई जयमल राठौड़ को सौंपा गया। उसके बाद दूसरा दर्जा पत्ता सीसोदिया को दिया गया। इनके पास ८००० सिपाही थे। अकबर ने चित्तौड़ को घेर लिया। दुर्ग के सामने तोपों के तीन मोरचे लगाए गये। उनमें से एक मोरचा स्वयं अकबर की देख-रेख में था और दूसरा टोडर मल की। एक दिन दुर्ग की दीवार पर अकबर ने जयमल को मरम्मत का आदेश देते देखा। उसने उस पर गोली चलाई और समझा कि वह मर गया है। पर वास्तव में वह मरा नहीं, लँगड़ा हो गया था। दुर्ग की रसद चुक जाने पर जयमल ने जौहर की आज्ञा दी। अन्तः पुर-वासिनी सुन्दर रमणियाँ जल कर राख का ढेर हो गईं। लँगड़ा जयमल अपने एक कुटुम्बी के कंधों पर चढ कर शत्रु-दल को काटता हुआ चढ़ा। चित्तौड़गढ़ के सब से नीचे के द्वारों के बीच उसकी मृत्यु हो गई। पत्ता सूरजपोल पर लड़ता हुआ काम आया, मेवाड़ पर अकबर का पूरा अधिकार हो गया।

अकबर ने अपने वीर शत्रु जयमल और पत्ता की हाथियों पर चढ़ी मूर्त्तियाँ बनवा कर आगरे के दुर्ग के बाहर स्थापित कराईं। अकबर के चले जाने पर उदयसिंह ने कुम्भलगढ़ को अपनी राजधानी बनाया।

सन् १५७२ मे उदयसिंह की मृत्यु के बाद राना प्रताप गद्दी पर बैठा। उस समय चित्तौड़ की दशा एक विधवा नारी के समान थी, जिस का सारा सौन्दर्य लुट चुका था। प्रताप बड़ा वीर था। उसकी नाड़ियों में बप्पा रावल का रक्त दौड़ रहा था। चित्तौड़ के अपमान का बदला लेने के लिए उसकी आत्मा जल रही थी। परन्तु वह काम कोई सरल न था। उसका राज्य बहुत छोटा था और अकबर की शक्ति बहुत बड़ी थी। दूसरे अम्बेर, मारवाड़, बीकानेर और बूँदी के राजा उसके मुसलिम-शत्रु के साथ मिल गये थे और अपने ही देश-बंधुओं के विरुद्ध उसे सहायता देने को तैयार थे।

परन्तु प्रताप इससे भयभीत नहीं हुआ। वह मातृभूमि को पराधीन न देख सकता था। उसने उसे स्वतंत्र कराने का प्रण किया और सब सुख-साधनों का परित्याग कर दिया। वह चटाई पर सोता था और बहुत सादा भोजन करता था। उसने सोने और चाँदी की थालियों मे खाना छोड़ दिया। उसकी सेना में बाजे नहीं बजते थे। वह प्रायः दुःख से कहा करता था कि यदि हमारे वंश में "उदयसिंह का जन्म न हुआ होता या मेरे और राना सांगा के बीच और कोई न हुआ होता, तो तुर्क कभी राजस्थान को जीत न सकते।"

जिन राजपूतों ने मुसलमानों को अपनी बेटी का डोला दिया था उनको वह पतित समझता था। उसने स्वतंत्रता के युद्ध को अकेले ही जारी रखने का दृढ़ संकल्प किया। उसका सब से पहला काम अपने छोटे से रजवाड़े को मजबूत बनाना था। उसने शासन-पद्धति का सुधार किया और किलेबंदियाँ मजबूत करके योग्य अफसरों के सिपुर्द कर दीं। उसने अपनी प्रजा को आदेश किया कि जब मुग़ल आक्रमण करें तो मैदान छोड़ कर पहाड़ों मे चले जाओ।

राजा मानसिंह गुजरात विजय करके दिल्ली लौट रहा था। अकबर के कहने पर वह रास्ते मे राना से मिलने गया। राना ने मानसिंह का अच्छा आदर-सत्कार किया। परन्तु भोजन के समय पर राना प्रताप वहाँ स्वय उपस्थित न हुआ, यह देख मानसिंह ने भोजन करने से इनकार कर दिया। उसने पूछा, राना जी खाने पर क्यों नहीं आए? प्रताप के पुत्र अमरसिंह ने उत्तर दिया—"राना जी के सिर मे दर्द है, इसलिए वे नहीं आ सके।" राजा मानसिंह बात ताड़ गया। वह कुपित होकर बोला—"रानाजी से कहो कि मैं उनके सिरदर्द का असली कारण समझ गया हूँ। उन्हे इस अपमान का फल चखना पड़ेगा।"

राणा इस धमकी से डरा नहीं। वह बोला—"बहुत अच्छा, रण-भूमि में आप से मिल कर मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।" राना चुप ही हुए थे कि उनका एक जोशीला सामन्त बोल उठा—"अपने फूफा को साथ लाना न भूलना।"

राजा मानसिंह के चले जाने पर वह स्थान जहाँ उसके

लिए भोजन परोसा गया था, अपवित्र समझ कर खोद डाला गया। फिर वहाँ गङ्गाजल छिड़क कर उसे शुद्ध किया। वर्तन तोड़ डाले गये। सभी सामन्तों ने मानसिंह के दर्शन से अपने को अपवित्र समझा। उस अशौच को दूर करने के लिए उन्होंने उसी समय स्नान करके कपड़े वदल डाले।

राजा मानसिंह इस अपमान से वहुत चिढ़ा। उसने सम्राट अकवर को प्रताप का गर्व खर्व करने के लिए उकसाया। राना को अपने वंश की पवित्रता का वड़ा गर्व था और वह अपनी जन्म-भूमि को स्वतंत्र देखना चाहता था, यही उसका दोष था। अकवर भी राना को नीचा दिखाने और मेवाड़ की स्वाधीनता का नाश कर देने पर तुला हुआ था। मानसिंह के अपमान का उसे वहाना मिल गया। वह कहा करता था और ठीक कहा करता था "कि अकवर परायों को अपना वनाना जानता है और प्रताप अपनों को भी पराया वना लेता है।" उस ने राना पर चढ़ाई करने के लिए मानसिंह को भेजा। वहुत से मुसलमान और राजपूत सरदारों और पाँच सहस्र सवारों को साथ ले, सन् १५७६ में मानसिंह ने मेवाड़ पर चढ़ाई कर दी। सागरजी का मुसलमान वना हुआ पुत्र प्रसिद्ध वीर महावतखाँ और राना से रूठ कर अकवर के पास आया हुआ राना का सगा भाई शक्तिसिंह भी मानसिंह के साथ था। उधर प्रताप के साथी थोड़े से राजपूत सरदार थे। परन्तु एक उल्लेखनीय वात यह है कि हाकिमखाँ सूर नाम का मुसलमान सरदार भी प्रताप के साथ था। हल्दीघाटी में दोनों सेनाओं की टक्कर

हुई। इस लड़ाई ने प्रताप का नाम इतिहास मे अमर कर दिया है।

इतिहास-लेखक अब्दुल कादिर बदायूनी स्वयं रणभूमि में उपस्थित था। उसने इस लड़ाई का सविस्तर वृत्तांत लिखा है। वह लिखता है कि जून का महीना था, गरमी के मारे प्राण निकल रहे थे। दोनों सेनाएँ रणक्षेत्र मे सुसज्जित होकर डटी थीं। मानसिंह हाथी पर सवार था। उसके साथ ख्वाजा मुहम्मद रफी बदख्शी, अली मुराद उजबेग और राजा लोणकरण थे। प्रताप ३००० राजपूतों के साथ घाटी के पीछे से निकला। अपनी सेना को उसने दो भागों में विभक्त कर दिया। उनमें से एक भाग का अध्यक्ष हाकिमखाँ सूर था। सूर ने बादशाही सेना के अग्रभाग पर धावा बोला जिससे गड़बड़ मच गई। बाईं भुजा पर लोणकरण के राजपूत सिपाही खड़े थे। वे कुछ भी रुकावट पैदा न करके भेड़-बकरी की भाँति भाग निकले। इस समय बदायूनी ने अपने सरदार आसफ खाँ से पूछा कि मित्र राजपूतों को शत्रु राजपूतों से कैसे पहचानें? आसफ खाँ ने उत्तर दिया—"तीर चलाते जाओ। किसी पक्ष के भी राजपूत मरे, इस्लाम को लाभ ही है" बदायूनी ने वैसा ही किया।

राना के दूसरे भाग का अध्यक्ष वह स्वयं था। राना ने क़ाज़ी खाँ की सेना पर हल्ला बोल कर उसे छिन्न भिन्न कर दिया। सवेरे से दोपहर तक भयंकर मार-काट होती रही। हाथियों की लड़ाई मे मानसिंह ने अच्छी वीरता दिखलाई। राना का हाथी, रामप्रसाद, निर्भीकता से लड़ा। परन्तु उसके महावत के घायल

हो जाने के कारण अन्त को वादशाही सेना ने उसे पकड़ लिया। यह हाथी अकवर के पास भेंट-स्वरूप भेज दिया गया। अकवर ने उसका नाम पीरप्रसाद रख दिया। मुल्लां वदायूनी को ६६ अशरफी पारितोपिक में दी गई।

हाथी छिन जाने से राना मेवाड़ का राज-छत्र लगा कर अपने चेतक घोड़े पर सवार हो युद्ध करने लगा उसके धावे से मुगलों के मोरचे टूट गये। वे तितर वितर हो गये। राना युद्ध भूमि में मानसिंह को ढूँढ़ रहा था। परन्तु वह कहीं दीख न पड़ा। इतने मे अकवर का वड़ा पुत्र सलीम सामने दिखाई दिया। राना ने तलवार से उस पर प्रहार किया। परन्तु तलवार सलीम को न लग कर उसके अंगरक्षक को लगी। वह उसी दम मर कर गिर गया। अपना वार खाली जाता देख राना ने अपना घोड़ा हाथी पर चढ़ा दिया। चेतक अपने स्वामी का अभिप्राय समझ हाथी की सूँड के सहारे जा खड़ा हुआ। राना ने सलीम पर वर्छा चलाया। परन्तु वर्छा सलीम के न लग कर उसके महावत के लगा और वह मर कर गिर पड़ा। विना महावत का हाथी सलीम को लेकर रण-भूमि से भाग गया।

प्रताप मानसिंह को ढूँढ़ता हुआ मुगल सेना में घूम रहा था उसके सिर पर छत्र देख मुगलों ने उसको घेर लिया। वह वड़े संकट में पड़ गया। राना की ऐसी अवस्था देख मन्नाजी झाला १५०० सैनिक ले उसकी रक्षा को दौड़ा और पास पहुँच कर उसने राज-छत्र आप ले लिया। राना समय पाकर वहाँ से निकल गया इधर मुगलों ने मन्ना को राना समझ कर

मार डाला। राना का घोड़ा चेतक वहुत बुरी तरह से घायल हुआ था। प्रताप हल्दी घाटी से दो ही मील दूर गया था कि चेतक ने प्राण दे दिये। इस लड़ाई को दोनों पक्षों ने अपनी अपनी विजय समझा।

कुछ काल उपरान्त अकवर ने राना पर फिर चढ़ाई की। उदयपुर मुगलों के हाथ आ गया। राना कमलमेर के दुर्ग मे चले गया। परंतु देवराज नामक एक देशद्रोही राजपूत अकवर के सेनापति शाहवाज खाँ से मिल गया। कमलमेर मे एक कुँआ था। उसी का पानी दुर्ग मे रहने वाले पीते थे। वहाँ और कोई जलाशय न था। देवराज के वताने पर शाहवाज ने उस कुएँ के जल में विप मिला दिया। इसलिए राना वहाँ से चौंड नामक पहाड़ी-दुर्ग में चले गये परन्तु मुगलों ने उनको वहाँ भी टिकने न दिया। अव वह वनों, कन्दराओं, और पर्वतो मे मारे मारे फिरने लगे। उनको और उनके वच्चों को कई वार खाली पेट सोना पड़ता था। कहते हैं एक वार वच्चे को रोटी के लिए विलखते देख उनका धैर्य टूट गया। उन्होंने अकवर को संधि के लिए पत्र लिखा। पत्र को देख कर अकवर के हर्ष की कोई सीमा न रही।

अकवर के दरवार मे वीकानेर के राजा का छोटा भाई पृथ्वी-राज कैद था। वह राणा प्रताप का वड़ा भक्त था। अकवर ने राना का पत्र उसे दिखाया। पत्र देख उसे वहुत दुःख हुआ। उसने अपनी मातृ-भापा के पद्य में राना को एक पत्र लिखा कि "राजपूतों की लाज आज तक आपके ही कारण वची हुई थी।

पर आज आप भी झुक रहे हैं। संसार का धन-दौलत, राज-पाट और पुत्र कलत्र सब नश्वर हैं। केवल विमल कीर्ति ही पीछे रह जाती है।" पृथ्वीराज का पत्र पढ़कर प्रताप में नवोत्साह का संचार हो गया। उसने संधि का विचार छोड़ दिया।

अब वह लुक छिप कर मुगल राज्य पर छापे मारने लगा। एक बार अकबर के सेनापति मिर्ज़ाखाँ की स्त्री युवराज अमरसिंह के हाथ पड़ गई। परन्तु राना ने उनके साथ अपनी पुत्रियों का सा व्यवहार किया और बड़े सम्मान के साथ उसको उसके पति के पास भेज दिया।

सन् १५८४ में अकबर ने एक बार फिर राना पर चढ़ाई की। इस बार उसके सेनापति जगनाथ कछवाहा और जफ़रबेग थे। परन्तु उन्होंने अनुभव किया कि राना को पराजित करना लोहे के चने चबाना है। अवस्थाएँ राना के अनुकूल थीं। उत्तर-पश्चिम सीमा पर गड़बड़ होने के कारण अकबर को कई वर्ष तक पंजाब में रुके रहना पड़ा। वह मेवाड़ की ओर कुछ ध्यान न दे सका। इस अवसर से लाभ उठाकर राना ने अपने छिने हुए सभी स्थान फिर वापस ले लिए। अन्त मे सन् १५९७ में उनका देहान्त हो गया।

प्रताप का अन्तिम दृश्य बड़ा ही हृदयद्रावक था। एक टूटी फूटी झोंपड़ी के भीतर चटाई पर लेटा हुआ भारत का महावीर अन्तिम समय की प्रतीक्षा कर रहा है चारों ओर सरदार गण चुपचाप बैठे हैं इतने में राना के मुख से एक कातर-ध्वनि निकली, सब सरदार आँसू बहाने लगे। चंद्रावत सरदार ने दुःख

भरे स्वर में पूछा "महाराना, मन मे कौनसा ऐसा कष्ट है, जिससे आपकी आत्मा शान्ति-पूर्वक इस संसार से विदा नहीं हो रही ?"

महाराणा ने सावधान होकर कहा— 'इस समय जो धैर्य्य-वाणी मुझे शान्ति दे सकती है, वह आप के ही पास है। मैं जीते जी चित्तौड़ का उद्धार न कर सका। मेरा पुत्र भी न कर सकेगा। स्वतंत्रता की रक्षा के लिए जिस कष्ट को सहने की आवश्यकता है उसे 'अमर' न सह सकेगा। एक बार वह इस नीची झोंपड़ी मे से वाहर जा रहा था। द्वार में फँस कर उसकी पगड़ी गिर पड़ी। इस पर वह क्रोध से झोंपडी की ओर निहार कर बोला कि थोड़े दिन और ठहर जाओ; मैं तुम्हे उजाड़ कर तुम्हारे स्थान मे वड़े वड़े महल वनाऊँगा।" इतना कहते-कहते राना का मुख और भी गम्भीर हो गया। वे फिर लंबी साँस लेकर कहने लगे—"जिसके लिए मैंने पच्चीस वर्ष तक इतने कष्ट सहे, उसी स्वतंत्रता को वह भूल जायगा। वह विलासिता मे पड़ कर मेवाड़ की धवल कीर्ति में कलङ्क लगायगा। "जीवन रहते हम मेवाड़ को तुर्कों के पास न रहने देंगे" तुम्हारी ऐसी प्रतिज्ञा सुन हम सदा के लिए सुख से नेत्र मूँद लेंगे।"

सरदारों ने ऐसी ही प्रतिज्ञा की। तब राना की पवित्र आत्मा शान्ति के साथ परलोक को सिधार गई। महत्त्व, वीरत्व और गौरव की मूर्त्ति महाराना ने इस प्रकार अपनी इहलीला समाप्त की।

शिवाजी

(सन् १६२७—१६८०)

शिवाजी के पिता का नाम शाहजी और माता का नाम जीजा-बाई था। शाहजी बीजापुर दरबार में नौकर थे, उन दिनों बीजापुर दरबार का मुगलों के साथ युद्ध हो रहा था। इन युद्धों में शाहजी को इधर से उधर अपनी प्राण-रक्षा के लिए भागना पड़ता था, इसी बीच जब शाहजी इधर से उधर प्राणरक्षा के लिए भाग रहे थे, तब १६ एप्रिल सन् १६२७ को शिवनेरि के दुर्ग में इनका जन्म हुआ। सन् १६३० मे शाहजी ने एक और विवाह कर लिया। इसलिए जीजाबाई रूठ कर पूना चली आई और वहीं रहने लगी। शिवाजी का विवाह दस ही वर्ष की अवस्था में विठोबा मोहते की लड़की यसूबाई से कर दिया गया था।

शाह जी की पूना वाली जागीर की देख-रेख दादाजी कोण्ड-देव नाम के एक विद्वान् के सिपुर्द थी। वे बड़े ईमानदार थे। कहते है, एक समय वे वाटिका में घूम रहे थे कि एक पके हुए आम पर उनकी दृष्टि पड़ी, अनायास उनका हाथ उस ओर चला गया उन्होंने आम तोड़ लिया। बाद को उन्हे इस चोरी के लिए इतना दुःख हुआ कि उन्होंने अपने साथियों से कहा कि मेरा दाहिना हाथ काट दो। उन्होंने ऐसा करने से इनकार कर दिया। परन्तु कई मास तक उन्होंने अपना वह हाथ नंगा रक्खा ताकि उसे चोरी का दण्ड मिले। अन्त को शाहजी के

अनुरोध से उन्होंने ऐसा करना छोड़ दिया। यही कोण्डदेव पूना में शिवाजी के शिक्षक थे। दादाजी ने शिवाजी के लिए पूना में एक मकान बनवाया, जिसका नाम रङ्गमहल रक्खा। शिवाजी अपने देश के पुराने वीरों की गाथाएँ सुनने के बड़े प्रेमी थे। उन्हें अपने साहस और निर्भीकता की परीक्षा लेने का भी बड़ा व्यसन था। वे पहाड़ की उन चोटियों पर चढ़ा करते और उन घाटियों मे उतरा करते थे जहाँ उनके साथी पैर बढाने से हिचकते थे, अपने बचपन के साथी मावलियो की टोली बनाकर मावल तथा कोंकण के प्रदेशो तथा सह्याद्रि के पहाड़ों मे कई कई दिन तक घूमते रहते थे। शिवाजी के हाथ बहुत लंबे थे। यह असाधारण पराक्रम का लक्षण समझा जाता है।

दादाजी कोण्डदेव के अतिरिक्त शिवाजी पर जिसका बड़ा प्रभाव पडा वह उनकी माता जीजाबाई थी। वह शिवाजी को रामायण और महाभारत की कथाएँ सुनाया करती थी। उसने शिवाजी के हृदय मे भवानी के प्रति अगाध भक्ति उत्पन्न कर दी थी। शिवाजी कई कई मील चलकर भवानी की पूजा करने जाया करते थे। वे सदा यही समझा करते कि उनके जीवन का एक धार्मिक उद्देश्य है। मराठों के विभिन्न वंश अलग अलग पड़े थे। शिवाजी ने उनके सामने राष्ट्र-धर्म का आदर्श रक्खा। उन सब को एक प्रबल शक्ति द्वारा एकत्र कर दिया जिस से वे लोग सम्मिलित सफलता में अभिमान और पराजय में लज्जा का अनुभव करे। शिवाजी मे एक प्रबल आकर्षण-शक्ति

थी। इससे वीर लोग उनकी ओर उसी प्रकार खिंच जाते थे जिस प्रकार लोह-कण-चुम्बक की ओर खिंच जाते है।

सं० १७०३ में सबसे पहले अपने पिता की जागीर के दक्षिणी सीमान्त पर स्थित तोरण दुर्ग को हस्तगत कर शिवाजी ने अपने भावी कार्य-क्रम का सूत्रपात किया। वहाँ उन्हे गड़ा हुआ काफी खज़ाना मिला। इस धन से शिवाजी ने अस्त्र-शस्त्र, तथा गोला-बारूद खरीदा और उस दुर्ग से छः मील की दूरी पर ही मोरबंद नामक पर्वत-शृंग पर एक और किला बनवाया जिसका नाम राजगढ़ रखा। यह देख कर बीजापुर के सुलतान के कान खड़े होगये। उसने शाहजी द्वारा दादा कोंडदेव को लिखवाया; पर शीघ्र ही दादाजी जराग्रस्त होकर इस संसार को छोड़ गये। उसके बाद शिवाजी ने पूना से १२ मील की दूरी पर स्थित कोंडाना नामक दुर्ग को उसके मुसलमान अधिकारी से ले लिया। फिर कुछ ही दिन के अनंतर पुरंधर का किला लेकर शिवाजी ने अपने दक्षिणी सीमांत को सुरक्षित बना लिया।

कल्याण के सूबेदार अहमद ने राजस्व का रुपया, थोड़े से सिपाही साथ देकर, बीजापुर भेजा। जब यह रुपया कोंकण में से होकर जा रहा था तो शिवाजी ने छापा मार कर उसे लूट लिया और दुर्ग पर चढ़ाई करके अधिकार कर लिया। अहमद की स्त्री भी वहाँ थी। वह शिवाजी के सामने लाई गई। वह अपने सौन्दर्य के लिए विख्यात थी। उसे आते देख शिवाजी ने उठकर प्रणाम किया। उसके सौंदर्य की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा—"यदि मेरी माँ मे आपका आधा भी सौंदर्य होता तो मैं

ऐसा कुरूप न होता।" फिर उसे बहुमूल्य पदार्थ भेट करके उस को और उसके पति को सम्मान पूर्वक बीजापुर भिजवा दिया। ऐसी अनेक घटनाओं से पता लगता है कि शिवाजी स्त्रीजाति का कितना सम्मान करते थे।

इसके बाद उत्तर महाल के नौ किलों पर शिवाजी ने अधिकार कर लिया, जिनमे लोहगढ़, राजमाची और रैरि प्रसिद्ध हैं। बीजापुर दरबार ने यह शंका की कि शाहजी ही के इशारे से शिवाजी यह उत्पात मचा रहा है, अतः उसने षड्यंत्र रच कर शाहजी को कैद कर लिया। पिता के कैद होने का समाचार सुनकर शिवाजी दुविधा में पड़ गये। यदि वे बीजापुर के विरुद्ध युद्ध करते, तो यह निश्चित था कि बीजापुर का सुलतान उनके पिता का वध कर देता। यदि वे युद्ध बंद कर स्वयं बीजापुर जाते, तो उनका अत निश्चित था। राजनीति-कुशल शिवाजी ने मुगल बादशाह शाहजहाँ से संधि-वार्ता आरंभ की। शाहजहाँ ने बीजा-पुर दरबार को शाहजी को छोड़ने के लिए लिखा। यह देख कर बीजापुर दरबार डर गया, क्योंकि यदि शिवाजी और मुगल मिल जाते तो बीजापुर दरबार कुचला जाता। फलतः बीजापुर दरबार ने उन्हें छोड़ दिया। पर बीजापुर दरबार ने गुप्त षड्यंत्र द्वारा शिवाजी को जीवित या मृत पकड़ना चाहा और बाजी शामराजे और जावली के राजा चन्द्रराव मोरे से इस काम मे सहायता माँगी।

अपने गुप्तचरों द्वारा शिवाजी को इस षड्यंत्र का पता लग गया। सं० १७१२ (सन् १६५६) में चन्द्रराव मोरे को मार

डाला और अपनी सेना सहित जावली पर आक्रमण कर के उस पर अधिकार कर लिया। वहाँ शिवाजी को बहुत-सा धन मिला। उससे उन्होंने उसी स्थान पर प्रतापगढ़ नामक किला बनाया।

सन् १६५९ मे बीजापुर के सुलतान ने शिवाजी का अंत कर देने का निश्चय किया। राजमाता के कहने पर उसका बहनोई अफ़ज़ल खाँ शिवाजी पर चढ़ाई करने को तैयार हुआ। अफ़ज़ल महाबली, पराक्रमी और भीम-काय था। उसके महल मे चौसठ स्त्रियाँ थीं। चढ़ाई पर जाने के पहले उसने उन सब को नदी मे डुबवा दिया ताकि उसके मरने के उपरान्त उन पर किसी की कुदृष्टि न पड़े। फिर उसने एक बड़ा पिंजड़ा बनवाया और कहा कि मैं इसमें शिवाजी को बंद करके लाऊँगा। रास्ते मे उसे जो भी देवालय मिलता उसे वह नष्ट-भ्रष्ट करता प्रतापगढ़ के पास जा पहुँचा।

अफ़ज़ल खाँ की सेना बहुत अधिक थी। साथ ही वह छल-कपट से काम लेना चाहता था। उसने शिवाजी के पास संदेश भेजा कि यदि तुम बीजापुर की अधीनता स्वीकार कर लो तो मैं सुलतान से तुम्हे क्षमा करा दूँगा और इस समय तुम्हारे अधिकार मे जितना प्रदेश है वह सब तुम्हारे पास ही रहने दिया जायगा। परन्तु शिवाजी को अपने विश्वास्य गुप्तचर विश्वासराव प्रभु द्वारा पहले ही उसके छल-कपट का पता चल गया था। जो लोग सन्धि का सन्देश लेकर आये थे उनमें कृष्णाजी भास्कर नाम का एक हिन्दू भी था। शिवाजी ने रात्रि में गुप्त रूप से उससे भेंट

करके हिन्दू-धर्म की रक्षा के नाम पर अपील की और कहा—"मैं मातृ-भूमि और पवित्र हिन्दू-धर्म का उद्धार करना चाहता हूँ। यह शिवाजी और अफजल खाँ का युद्ध नहीं; यह तो स्वतन्त्रता-देवी और परतंत्रता राक्षसी का युद्ध है।"

यह सुन कर कृष्ण जी का हृदय पिघल गया। उसने शिवाजी को वता दिया कि अफजल खाँ उन्हे पकड़ना चाहता है; सन्धि की वात तो धोखे की टट्टी है। यह सुनकर शिवाजी कपट का सामना करने के लिए तैयार हो गये।

एक निर्जन स्थान मे अफजल खाँ और शिवाजी के मिलने की वात निश्चित हुई। शिवाजी ने जंगल कटवा कर मार्ग साफ करा दिया था, परन्तु सड़क के दोनों ओर के वन मे शिवाजी के सैनिक छिपे हुए थे। शिवाजी ने इस विचार से कि शायद कहीं काम पड जाय, चलते समय "वाघनख" पहन लिया। माता ने पुत्र को विजयी होने का आशीर्वाद दिया। परन्तु ममता के कारण उसके नेत्रों मे आँसू आगये।

शिवाजी एक सुसज्जित शामियाने के नीचे अफजल खाँ का स्वागत करने के लिए खड़े थे। आते ही अफजल खाँ ने फवती कसी कि "तेरे जैसा एक साधारण किसान ऐसा सुन्दर शामियाना कहाँ से पा सकता है?" इस पर ईंट का उत्तर पत्थर से देते हुए शिवाजी ने कहा—"यह मेरा काम है। तू. एक भठियारे का वेटा, इसे कैसे जान सकता है?"

यह सुन कर खाँ ने क्रोध से अपना वायाँ हाथ शिवाजी की गर्दन पर डाला और सिर को खींच कर वगल मे दवा लिया।

साथ ही उसने शिवाजी के पेट पर तलवार से चोट की। परन्तु नीचे कवच होने से शिवाजी की रक्षा हो गई। शिवाजी अचेत होने को थे, परन्तु उन्हें अपने गुरु समर्थ की याद हो आई। इस से उनमें साहस का सञ्चार हो गया। उन्होंने खाँ की कमर के गिर्द हाथ डालकर दाहिना हाथ ऊपर उठाया। 'वाघनख' तो खाँ के पेट में और दाहिने हाथ की कटार उसकी पीठ में घुस गई। खाँ धड़ाम से गिर पड़ा। सम्भाजी कावजी ने दौड़कर उस का सिर काट लिया। यह देख खाँ की सेना में भगदड़ मच गई। वहुत से सिपाही मारे गये और कुछ वंदी कर लिए गये। शिवा जी खाँ का सिर लेकर अपनी माता की सेवा में पहुँचे। जीजाबाई दुर्ग के शिखर पर से सब कुछ देख रही थी। पुत्र को विजयी हो कर आते देख उसकी प्रसन्नता की कोई सीमा न रही। शिवाजी ने अफजल खाँ के सिर को भवानी पर चढ़ाकर भूमि में गाड़ दिया। उस पर उन्होंने एक बुर्ज खड़ा किया और उसका नाम अफज़ल बुर्ज रक्खा।

इस के बाद शिवाजी के साथ बीजापुर दरबार की और कई लड़ाइयाँ हुईं जिनमें शिवाजी ही विजयी हुए। इस से बीजापुर-दरबार बहुत भयभीत हो गया। उस ने शाह जी को शिवाजी से सन्धि की बातचीत करने भेजा। शिवाजी, अपनी माता और दोनों रानियों समेत, जेजोरी के मन्दिर में पिता की प्रतीक्षा कर रहे थे। ज्यों ही शाहजी प्रकट हुए, शिवाजी ने साष्टाङ्ग प्रणाम करके अपना सिर उनके चरणों पर रख दिया। इसके उपरान्त जीजाबाई और शिवाजी की

रानियों ने शाहजी का आदर-सत्कार किया। शाहजी तो पालकी में बैठ गया, परन्तु शिवाजी नंगे पाँव पैदल जेजोरी तक गये। उन्होंने पिता के सामने बैठने से भी इनकार कर दिया। वे हाथ जोड़े हुए सामने खड़े रहे। उन्होंने बार बार पिता से उस अपराध के लिए क्षमा माँगी जिसके कारण शाहजी को बीजापुर के सुलतान ने बंदी किया था। शाहजी ने उठ कर शिवाजी को छाती से लगा लिया और कहा—'जो अपने राष्ट्र की स्वतत्रता के लिए यत्न करता है उसके सब अपराध क्षम्य हैं।" जेजोरी से पिता-पुत्र दोनों पूना आये। यहाँ बीजापुर-सरकार ने शिवाजी की स्वतंत्रता स्वीकार कर ली और दोनों की संधि हो गई।

अब शिवाजी का वज्र मुग़ल-साम्राज्य पर गिरा। दिल्ली का बादशाह उस समय औरङ्गजेब था। वह एक विकट मनुष्य था। उसने अपने मामा शाइस्ता खाँ को एक बड़ी सेना देकर शिवाजी से युद्ध करने भेजा। शाइस्ताखाँ पूना में जाकर उसी 'रङ्गमहल" में ठहरा जहाँ शिवाजी का बाल्यपन बीता था। उस ने फ़ारसी पद्य में एक पत्र लिखा, उसमें शिवाजी की उपमा एक ऐसे बंदर से दी जो प्राण-रक्षा के लिए इधर-उधर भागता फिरता है। शिवाजी ने संस्कृत श्लोकों मे उसका उत्तर दिया। उन्होंने लिखा कि मैं साधारण बंदर नहीं हूँ वरन् हनुमान् हूँ: मैं तुम्हारा उसी प्रकार नाश करूँगा जिस प्रकार हनुमान् ने राक्षस रावण का किया था।

शाइस्ता खाँ ने पूना के चारों ओर पहरे बैठा दिये। कोई हिन्दू बिना आज्ञा लिए भीतर या बाहर नहीं जा

सकता था। शिवाजी ने दो सौ चुने हुए सिपाहियों की एक बारात तैयार की। एक लड़के को दूल्हा बना कर बैठाया। आगे आगे दूल्हा जाता था, उसके पीछे शिवाजी और उनके साथी नगाड़े और शहनाई बजाते जा रहे थे। जब आधी रात हुई और सब लोग सो गये तो वे अपने सिपाहियों को ले चुपके से रंगमहल में जा घुसे और जो कोई सामने आया उसे तलवार के घाट उतार दिया। शाइस्ताखाँ का बेटा अब्दुल फ़तह खाँ मारा गया। शाइस्ताखाँ प्राण लेकर भागा। परन्तु एक मराठे के खड्ग-प्रहार से उसकी दो उँगलियाँ कट गईं। शिवाजी अब पूना से बाहर निकले। बाहर उनकी कई सहस्र सेना छिपी बैठी थी। वे और उनके साथी उनमें जा मिले। उन्होंने वन में, वृक्षों में मशालें बाँध रक्खी थीं। जाते समय उन्होंने उन सब को जला दिया। इससे मुगल-सेना समझने लगी कि मराठों की बड़ी भारी सेना पड़ी है। जितनी देर में शाइस्ता खाँ अपनी सेना को धावे के लिए तैयार कर सका, उतनी देर में शिवाजी और उनके साथी अपने सिंहगढ़ के दुर्ग में पहुँच चुके थे।

शाइस्ताखाँ की हार से औरङ्गजेब बहुत चिढ़ा। उसने धोखे से शिवाजी को पकड़ना चाहा और जयपुर के महाराज जयसिंह के द्वारा शिवाजी को संधि के लिए दिल्ली बुलवाया। शिवाजी अपने पुत्र सम्भाजी सहित दिल्ली पहुँचे। औरङ्गजेब ने धोखे से दोनों को बंदी कर लिया। इस प्रकार अपने को शत्रु के पंजे में फँसा देख शिवाजी ने एक चाल चली। उन्होंने रुग्ण

होने का वहाना किया। फिर कुछ दिन वाद उनके स्वस्थ हो जाने का समाचार प्रसिद्ध हुआ। स्वास्थ्य-लाभ करने के उपलक्ष में शिवाजी एक विशेष प्रकार के लवे लंवे टोकरों में मिठाई और फल रख कर राजपुरुषों और ब्राह्मणों को भेजने लगे। दो-एक वार तो पहरेदारों ने टोकरों की तलाशी ली, परन्तु वाद को वे निश्चिन्त हो गये। एक दिन अवसर पाकर एक टोकरे मे शिवा जी लेट गये और दूसरे मे सम्भाजी। तव उनके नौकर, मजदूरों के भेष में, उन्हें उठाकर वाहर ले गये। शिवाजी के वजाय उनका स्वामिभक्त सेवक हीराजी फर्जन्द मुँह ढाँप कर उनके विछौने पर लेट गया। उसका केवल वही हाथ नङ्गा था जिसमे उसने शिवाजी की अँगूठी पहन रक्खी थी। नगर के वाहर घोड़े तैयार खडे थे। उन पर सवार हो वाप-वेटे कहीं के कहीं निकल गये। जव औरङ्गजेव को यह समाचार मिला तो वह हाथ मलता रह गया। शिवाजी यदि घवरा जाते और चतुरता से काम न लेते तो उनका शत्रु के चुङ्गल से छुटकारा पाना कठिन था।

६ जून सन् १६७४ को रायगढ़ मे शिवाजी का राज्याभिषेक हुआ। खुले मैदान मे एक राजसी मण्डप वनाया गया। शुभ मुहूर्त्त मे सव मन्त्री शिवाजी को लिए हुए वहाँ आये। शिवाजी श्वेत वस्त्र पहने हुए थे। उनके पीछे माता जीजावाई थी। उसके पीछे दोनों रानियाँ—सम्भाजी की माँ यनूवाई और राजाराम की माँ राजसवाई—और राजकर्मचारी थे। शिवाजी सीस नवा कर राजसिंहासन पर वैठे। उनका वैठना था कि दुर्ग की

तोपों ने सलामी दी। इसके वाद शिवाजी ने सोने का तुलादान किया। उनका तौल एक सौ चालीस पौण्ड था।

बाल्यकाल से ही शिवाजी में साधु-सन्तों के प्रति पूज्य भाव था। वे साधु-समागम के लिए सदा उत्कण्ठित रहते थे। एक वार उन्होंने महात्मा तुकाराम से मंत्रोपदेश की प्रार्थना की। पर उन्होंने शिवाजी को श्री रामदास स्वामी की शरण में जाने की आज्ञा दी। शिवाजी ने पत्र लिखकर समर्थ रामदास को अपनी राजधानी में वुलाया, परन्तु वे नहीं आए। उन्होंने शिवाजी को पत्र में लिखा—

"इस समय भूमण्डल में ऐसा कोई नहीं है जो धर्म की रक्षा करे। महाराष्ट्र-धर्म तुम्हारे ही कारण वचा है। जहाँ जो कुछ थोड़ा वहुत धर्म देख पड़ता है और साधु जनों की रक्षा हो रही है, वह सव तुम्हारे ही कारण। तुम ने दुष्टों का संहार किया है, अव तुम्हें ही धर्म-स्थापन का काम सँभालना चाहिए। श्री रामचन्द्र जी कृपा करेंगे, तुम्हारे सभी मनोरथ पूर्ण होंगे।"

यह पत्र पढ़कर शिवाजी के धार्मिक और निष्ठायुक्त हृदय में उन के दर्शन की उत्कण्ठा और भी तीव्र हो गई। वे उनको ढूँढ़ते ढूँढ़ते खड़ों जा पहुँचे। वहाँ उनको समर्थ के दर्शन हो गये। समर्थ ने उन को मन्त्रोपदेश दिया।

शिवा जी का दृढ़ विश्वास था कि यह विजय और विपुल द्रव्य-प्राप्ति श्री गुरु चरणों के प्रताप से है। एक दिन समर्थ भिक्षा माँगते हुए सतारा मे शिवाजी के महल में गये और "जय जय श्री रघुवीर समर्थ" की गर्जना करके उन्होंने

भिक्षा माँगी। समर्थ की वाणी सुनते ही शिवाजी का हृदय गद्गद हो गया। वे सोचने लगे, ऐसे सत्पात्र सद्गुरु की झोली में क्या भिक्षा डाली जाय। तुरन्त ही उन्होंने एक कागज पर लिखा—"श्री समर्थ के चरणों में सब राज्य अर्पित है।" यह कागज़ का टुकडा उन्होंने समर्थ की झोली मे डाल दिया। समर्थ ने शिवाजी से पूछा—"क्यों शिवा, राज्य तो तुमने हमको दे दिया, अब तुम क्या करोगे ?" शिवा ने हाथ जोड़ कर विनती की कि आपकी चरण-सेवा मे रह कर समय व्यतीत करूँगा। यह सुन कर समर्थ हँसे। उन्होंने कहा—"बाबा जो जिसका काम है वह उसी को करना चाहिए। शिवा, हम बैरागियों को राज्य की क्या आवश्यकता है। मंत्री तू ही बन और हमारा राज्य समझ कर उसका प्रबंध कर।" इस उपदेश से शिवाजी का अंतःकरण गद्गद हो गया। उन्होंने समर्थ से कहा—"अब कृपा-पूर्वक मुझे अपनी पादुकाएँ दीजिए। उन्हीं को स्थापन करके मैं आपके मत्री की तरह राज-काज करूँगा।" समर्थ ने यह स्वीकार कर लिया। उस समय से शिवाजी ने अपना झंडा भगवे रंग का कर दिया। मराठों का भगवा झंडा इतिहास मे प्रसिद्ध है।

शिवाजी बड़े गुण-ग्राही थे। वे साहित्य के बहुत अच्छे मर्मज्ञ थे। कहा जाता है कि हिन्दी के प्रसिद्ध कवि भूषण के एक पद्य को शिवाजी ने बावन बार सुना था और उसे बावन लाख रुपया पारितोषिक मे दिया था। भूषण का वह पद्य यह है—

इन्द्र जिमि जम्भ पर, वाड़व सुअम्भ पर,
रावन सदम्भ पर रघुकुल राज है।

पौन बारिबाह पर, शंभु रतिनाह पर,
　　ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है॥
दावा द्रुम-दण्ड पर, चीता मृग-झुण्ड पर,
　　भूषण वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
　　त्यों म्लेच्छ-वंस पर सेर सिवराज है॥

शिवाजी के समय में बाबाजी निम्बालकर और नेता जी पालकर नाम के दो मराठा सरदार मुसलमान हो गये थे। माता जीजाबाई ने आज्ञा दी कि "स्वराज्य के लिए इन दोनों सरदारों को पुनः हिन्दू बना लेना अत्यन्त आवश्यक है।" बस, फिर क्या था। उन दोनों को शिवाजी ने तुरन्त हिन्दू बना लिया। इस के बाद जीजाबाई ने अपनी भतीजी का विवाह निम्बालकर से कर दिया, जिससे उनके हिन्दू होने में किसी को कोई सन्देह न रहे।

२८ मार्च सन् १६८० को शिवाजी के घुटने पर सूजन सी हो गई। बहुतेरे उपचार किए परन्तु रोग बढ़ता ही गया। साथ ही ज्वर भी आने लगा। सातवें दिन, ५ एप्रिल सन् १६८० को उनका देहान्त हो गया।

जिस नर-केसरी की दहाड़ से मुग़ल-साम्राज्य काँप उठा था; आज वह महानिद्रा में सो गया। आर्य वीरता का चमकता हुआ सूर्य अस्ताचल की ओट में चला गया। कैसी निर्भिक आत्मा थी! कैसा अबाध आत्मविश्वास था!

शिवाजी का सारा जीवन लड़ाइयों में ही बीता। १८ वर्ष

की अवस्था मे जिस 'हिन्दवी स्वराज्य' की स्थापना का उन्होंने सूत्रपात किया, आजीवन वे उसी कार्य मे लगे रहे। उन की अभिलाषा समस्त भारत मे हिन्दू स्वराज्य स्थापना करने की थी, परन्तु अपने जीवन मे वे इसे पूरा न कर सके। केवल ताप्ती और तुगभद्रा के बीच के अधिकांश भाग तक ही उनके स्वराज्य की सीमा रही। परन्तु एक छोटी सी जागीरदारी से इतना विस्तृत स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना भी साधारण बात नहीं है। वह भी ऐसे समय जब कि विशाल मुगल-साम्राज्य, बीजापुर, गोलकुंडा, दक्षिणी करनाटक-नरेश, पश्चिमी समुद्र के किनारे के हबशी और फिरंगी ही नहीं अपितु वीर क्षत्रिय राजपूत और अन्य सजातीय और सधर्मी भाई भी मुसलमानों के साथ एक होकर उन्हे कुचलने का प्रयत्न कर रहे थे और अकेले शिवाजी को ही उन सबका मुकाबला करना पड रहा था। मराठे उन्हें अवतार समझते थे, क्योंकि हिन्दू धर्म और हिन्दू-संस्कृति का उद्धार और गौ ब्राह्मण तथा साधु-संत की सेवा ही उनके जीवन का लक्ष्य था। दूसरी ओर अफजलखाँ-वध, शाइस्ताखाँ की दुर्दशा, सूरत की लूट, औरंगजेब की कैद से अकेला बचकर निकल आना, कुछ थोड़े मे व्यक्तियों को साथ लेकर अजेय दुर्गों को रात ही रात में विजय कर लेना, आदि उनके साहसिक कृत्यों को देख कर मुसलमान उन्हे जादूगर समझते थे और उनके आतंक से काँपते थे। वही बीजापुर, जहाँ उनके पिता नौकर थे, जो उनको बचपन में ही कुचल देना चाहता था, उन्हें वार्षिक कर देने लगा था,

और उनसे रक्षा की भीख माँगता था। गोलकुंडा का सुलतान उन्हें चौथ देता था; तथा पराक्रमी औरंगज़ेब उनसे चिंतित रहता था।

शिवाजी केवल रण-कुशल वीर ही नहीं थे, अपितु कुशल-शासक भी थे। उन्होंने अपने विस्तृत राज्य के शासन के लिए अष्टप्रधान नाम का एक मंत्रिमंडल बनाया था। आठ मंत्रियों के अधीन राज्य का एक-एक विभाग था। जल और स्थल दोनों प्रकार की सेनाएँ उन्होंने रखी हुई थीं। प्रत्येक कर्मचारी को वेतन राजकीय कोष से ही मिलता था।

माता के गर्भ से जन्म ग्रहण करने वाला कोई भी मनुष्य त्रुटियों से रहित नहीं। शिवाजी में भी त्रुटियाँ थीं। फिर भी इतिहास में उनका नाम एक महान और चतुर चूड़ामणि राज-नीतिज्ञ के रूप में अमर रहेगा। वे आप तो उत्साह की मूर्त्ति थे ही, परन्तु उन में एक देव-दुर्लभ गुण और भी था—वे दूसरों में भी उत्साह का संचार कर देते थे। जो कार्य अपने जन्म के क्षत्रियत्व पर इतराने वाले राजपूत न कर सके, वही काम शिवा जी ने अपने मुट्ठी भर शूद्र मावलों की सहायता से कर दिखाया। उन्होंने मुगल-साम्राज्य को जड़ से उखाड़ डाला और एक ऐसी महती शक्ति की स्थापना की, जो यदि अंगरेज़ न आते तो आज सारे भारत की स्वामिनी होती। जब हम इस दृष्टि से विचार करते हैं तो उस महापुरुष के प्रति सम्मान और प्रशंसा के भाव से हमारा मस्तक झुक जाता है।

खेद है कि शिवाजी ने जिस महाराष्ट्र की स्थापना के लिए

भगीरथ परिश्रम किया वह उन के बाद बहुत देर स्थिर न रह सका। इसका कारण बताते हुए प्रसिद्ध इतिहासशास्त्री सर यदु नाथ सरकार ने ठीक ही लिखा है—

"शिवा जी के प्रयत्न से सारे देश मे एक अस्थायी उत्साह फैल गया और हमने समझ लिया कि देश संयुक्त हो गया है। परन्तु समाज-रूपी शरीर मे पड़ी हुई दरारे और छेद गुप्त रूप से काम करते हैं। उनके कारण हम किसी ऊँचे आदर्श को देर तक स्थिर नहीं रख सकते। शिवा जी ने इन दरारों को वैसी की वैसी बनाए रखना चाहा। वह मुग़लों के आक्रमण से एक ऐसे समाज की रक्षा करना चाहता था जो आनुष्ठानिक विभिन्नताओं और वर्ण-भेद की पृथकता को ही जीवन और प्राण समझता था। वह ऊँच-नीच के प्रभेदों से भरे हुए गंगा-जमनी समाज को समूचे भारत का विजेता बनाना चाहता था। इसलिए वह रेत की दीवारें खडी कर रहा था। वह असम्भव को सम्भव बनाने जा रहा था। जात-पात से बुरी तरह आक्रांत हुए, भीतर से फटे हुए और बिखरे हुए हिन्दू समाज का भारत जैसे महादेश पर स्वराज्य स्थापित करना मानवी शक्ति से बाहर और विश्व ब्रह्माण्ड के ईश्वरीय नियम के विरुद्ध है।"*

*"Shivaji and His Times," p. 429

गुरु गोविंदसिंह

(१६६०—१७०८)

गुरु गोविन्दसिंह सिक्खों के दसवें और अन्तिम गुरु थे। उन के पिता गुरु तेग बहादुर जयपुर के राजा विशनसिंह के साथ आसाम गये थे। जाते समय वे अपने परिवार को पटना में कृपालदास के पास छोड़ गये थे। वे अभी कामरूप में ही थे कि पीछे से पटना में उनके यहाँ १३ पौष संवत् १७२३ विक्रमी तदनुसार सन् १६६० ईसवी को माता गुजरी के पेट से गोविन्दसिंह का जन्म हुआ। उनके बाल्यकाल के पहले पाँच वर्ष पटने में ही बीते। इसके बाद गुरु तेगबहादुर जी ने उनको होशियारपुर जिले के अन्तर्गत आनन्दपुर में बुला लिया। यह स्थान गुरुजी ने बिलासपुर कहलूर के राजा से पाँच सौ रुपये में मोल लिया था इसका नाम पहले माखोवाल था।

नौ वर्ष की आयु में गोविन्दसिंह का विवाह लाहौर के हरियश की लड़की जीतोजी से हो गया। इसके बाद सन् १६८४ में उन का दूसरा विवाह बजोदजह निवासी रामशरण की लड़की सुन्दरी जी से हुआ। पहली स्त्री से उनको जोरावरसिंह, जुझारसिंह, फतेसिंह नाम के तीन पुत्र हुए और दूसरी से अजीतसिंह नाम का एक।

गुरु तेग बहादुर के समय में हिन्दुओं की बड़ी दुर्दशा थी। मुसलमान शासक उनको बहुत बुरी तरह से सताते थे। एक दिन काश्मीर के कुछ ब्राह्मणों ने गुरु तेगबहादुर के निकट

आकर पुकार की कि मुसलमान हमें बहुत दु:ख देते हैं; हमारी बहू-बेटियों की मान-मर्यादा मिट्टी में मिल गई है; हमारा कोई रक्षक नहीं।

गुरुजी ने कुछ देर सोचकर कहा—"जब तक कोई पुण्यात्मा अपना सीस नहीं देगा, मुसलमानों का अत्याचार बंद नहीं हो सकता। उस समय बालक गोविन्दसिंह उनके निकट खड़े थे। वे बोले—"इस युग में आप से बढ़कर पुण्यात्मा और कौन है। आप ही इनकी रक्षा कीजिए।" तब गुरुजी ने कहा—"बेटा, तुम अभी बच्चे हो· मेरे बाद तुम्हारा पालन-पोषण कौन करेगा ?" इस पर बालक गोविन्द झट बोल उठे—"आप यह क्या कह रहे हैं ?—

जब हुते उदर महि मात के करे रखवारी जोय।
अब तो भये नौ साल के, क्यों न सहाई होय॥"

यह सुन गुरुजी बहुत प्रसन्न हुए। तब उन्होंने उन ब्राह्मणों से कहा कि तुम औरङ्गजेब को कहला भेजो कि यदि गुरु तेग-बहादुर इस्लाम धर्म की दीक्षा ले लेंगे, तो फिर हम सब अपने आप इस्लाम ग्रहण कर लेंगे।

औरङ्गजेब को जब यह सूचना मिली तो उसने गुरुजी को दिल्ली बुलवा भेजा। गुरुजी पाँच सिक्खों को साथ ले वहाँ जा पहुँचे। औरङ्गजेब ने उनको मुसलमान होने को कहा। जब वे लालच या भय से किसी भी तरह न मानें, तब उसने पहले उनके साथियों को काफी क्रूरता से मरवा डाला। इसके बाद गुरुजी की बारी आई। बादशाह ने ढिंढोरा

पिटवा कर लोगों को चाँदनी-चौक में इकट्ठे होने को कहा। मार्गशीर्ष ५ संवत् १७३२ का दिन था। गुरुजी पद्मासन लगाए भगवद् भजन में लीन बैठे थे। वधिक ने खड्ग के प्रहार से उनका मुण्ड रुण्ड से पृथक् कर दिया। इस प्रकार एक निरपराध महात्मा का वध होते देख जगत् में हाहाकार मच गया। कहते हैं उस समय आकाश में घोर गर्जन का शब्द हुआ, बड़े जोर से आँधी चलने लगी। नगर में अंधकार छा गया। इसी घटना का वर्णन गोविन्दसिंहजी ने अपने दशम-ग्रन्थ में इस प्रकार किया है—

ठीकरि फोरि दिल्लीश सिर प्रभुपुर किया प्रयान।
तेग बहादुर सी क्रिया, करी न किनहूँ आन॥
तेग बहादुर के चलत, भयो जगत में शोक।
हाय! हाय! हाय! सब जग भयो जय जय जय सुरलोक॥

भङ्गी जाति का भाई जीवन नाम का एक सिक्ख उस समय दिल्ली में पहुँचा हुआ था। आँख बचा कर उसने गुरुजी का सीस उठा लिया और आनन्दपुर में लाकर गोविन्दसिंहजी को दे दिया। इससे गोविन्दसिंह उस अछूत सिक्ख से बहुत प्रसन्न हुए, वे उसे गले लगाकर बोले "रङ्गरेटे गुरु के बेटे" अर्थात् अछूत जाति के सिक्ख सब गुरु के बेटे हैं।

पिता के आत्म-बलिदान के उपरान्त गुरु गोविन्दसिंह जी गद्दी पर बैठे। मुग़लों के अत्याचारों को देख पहले ही बहुत से हिन्दू सिख-गुरुओं के अनुयायी बन चुके थे। अब गुरु तेग बहादुर के बलिदान ने मुग़लों के प्रति जनता के रोष को और भी

बढा दिया। गुरु गोविन्दसिंह जी की शिष्य-मण्डली और भी अधिक विस्तृत हो गई।

गुरु जी हिन्दू जाति की दुर्बलता और ह्रास के मूल कारण को खूब समझते थे। वे जानते थे कि ऊँच-नीच-मूलक जाति-भेद के कारण ही हिन्दुओं का कोई संगठन नहीं। इसी से ये मिलकर किसी शत्रु का सामना नहीं कर सकते। इसलिए उन्होंने कार्यतः इस जाति-भेद को मिटाने का यत्न किया। उन्होंने आनंद पुर में एक बड़ा सहभोज किया उसमे चारों वर्णों के लोगों को खाने पर बुलाया। जब सब लोग भोजन कर चुके तो केशवदास नाम का एक ब्राह्मण वहाँ पहुँचा। वह गुरु जी से बोला कि आपने मुझे सहभोज में क्यों नहीं बुलाया? गुरुजी ने कहा "मुझे याद नहीं रहा था। मेरी भूल क्षमा कीजिये। अब भी भोजन तैयार है। बैठिये, और खाइए।

केशवदास क्रुद्ध होकर बोला—मैं इन अछूतों का बचा हुआ भोजन कैसे ग्रहण कर सकता हूँ? तब गुरुजी ने उत्तर दिया कि जिनको आप नीच और अछूत कह कर घृणा कर रहे हैं, वे तो मेरे प्राणप्यारे हैं। इनके बिना तो मैं कुछ भी नहीं—

युद्ध जिते इनहीं के प्रसाद, इनहीं के प्रसाद सुदान करे।
अघ औघ टरै इनहीं के प्रसाद, इनहीं की कृपा पुनिधाम भरे
इनहीं के प्रसाद सु विद्या लई; इनहीं की कृपा सब शत्रु मरे।
इनहीं की कृपा से सजे हम हैं, नहीं मोसे गरीब करोर पड़े॥

गुरुजी के ये शब्द सुनते ही केशवदास का सारा जन्माभिमान चूर हो गया। इतना ही नहीं, गुरुजी ने फिर कहा—

सेव करी इनहीं की भावत; और की सेव सुहात न जी को
दान दियो इनही को भलो, अरु आन को दान न लागत नीको॥
आगे फलै इनही को दियो, जग में जस और दियो सब फीको।
मो गृह पै तन ते मन ते, सिर लौं धन में सबही इनही को॥

समता, बन्धुता और स्वाधीनता के प्रचारक होने के कारण गुरु गोविन्दसिंहजी की शक्ति दिन पर दिन बढ़ने लगी। पद-दलित शूद्रों ने गोविन्दसिंहजी के रूप में अपना परम हितकारी और परित्राता देखा। गुरुजी की बढ़ती हुई शक्ति को देख कर आनन्दपुर के पड़ोसी पहाड़ी राजपूत राजाओं में द्वेषाग्नि धधक उठी। गुरु गोविन्दसिंह जी के पास आसाम का एक बहुत सुन्दर हाथी था। बिलासपुर कहलूर के राजा भीमचन्द ने वह उनसे माँगा। परन्तु उन्होंने वह देने से इनकार कर दिया। इस पर भीमचन्द दस सहस्र सेना लेकर उन पर चढ़ आया। गुरुजी ने दो सहस्र सेना के साथ भंगानी के स्थान पर उसका सामना किया। वहाँ इनको कुछ और कुमक भी मिल गई। बड़ा घमासान युद्ध हुआ। गुरु जी ने अपने नवीन सिक्खों में ऐसी निर्भयता और वीरता भर दी थी कि जिन सिक्खों ने कभी तलवार और बंदूक को हाथ तक न लगाया था, वे भी ऐसी वीरता से लड़े कि शत्रु देख कर चकित रह गया। इस युद्ध मे सिक्ख-सेनापति संगूशाह और मोहन जी मारे गये! परन्तु सिक्खों ने लड़कर पहाड़ी राजपूतों और उनके सहायक पठानों के छक्के छुड़ा दिए। वे मैदान छोड़कर भाग गये। सिक्ख सेना बहुत-सा लूट का माल लेकर नाहन के निकट पाउँटा के दुर्ग में चली गई। यह

दुर्ग नाहन के राजा मेदिनी प्रकाश ने गुरु गोविन्दसिंह को दे रक्खा था। गुरु जी की यह पहली विजय थी।

पहाड़ी राजाओं ने कुछ वर्ष से दिल्ली के मुग़ल-सम्राट् को राजस्व नहीं भेजा था। जब औरङ्गजेब की सेनाएँ दक्षिण से वापस आई तो उसने मुगल-सेना को इन राजाओं पर चढाई करने के लिए भेजा। राजा भीम चन्द को छोड़कर अन्य कई राजे मारे डर के पहले ही मुगलों से जा मिले। इसलिए राजा भीम चन्द को भारी हार का मुँह देखना पडा। तब उसने अपने पिछले अपराध के लिए गुरु जी से क्षमा माँग कर इस संकट के समय मे सहायता देने की प्रार्थना की। गुरु जी ने पाँच सौ चुने हुए सवार दीवान चन्द की अध्यक्षता मे उसकी सहायता के लिए भेजे। इन वीरों ने वह काम कर दिखाया जो जन्म के राजपूत न कर सके। इन्होने बादशाही सेना के छक्के छुड़ा दिए। मैदान सिक्खों के हाथ रहा।

इस पराजय से मुग़ल-सम्राट् बहुत चिढ़ गया। उस ने अपने युवराज मुअज्ज़म को बहुत सी सेना देकर पहाड़ी राजाओं- और गुरु गोविन्दसिंह के साथ लड़ने के लिए भेजा। कई जगहों पर मुठभेड हुई। सिक्खों ने मुग़ल सेना को बहुत हानि पहुँचाई। परन्तु फिर भी आनन्दपुर में शत्रु-दल का प्रवेश हो गया। उन्होंने नगर को लूट लिया। वे लूट का माल लिए, हर्ष से फूले न समाते वापस जा रहे थे कि भालों नामक स्थान पर सिक्खों ने उन पर छापा मारा। बादशाही सेना मे भगदड़ मच गई। लूट का सारा माल सिक्खों के हाथ आया।

अब गुरु गोविन्दसिंह हिन्दुओं को संगठित करके एक प्रबल राष्ट्र बनाने का उपाय सोचने लगे। उन्होंने पहाड़ी राजपूत राजाओं को निमन्त्रित करके परामर्श दिया कि आओ सब मिलकर एक हो जाँय। एकता के बिना शत्रु पर विजय पाना कठिन है। अब ऊँच-नीच का भाव छोड़ दो और जनता-जनार्दन की शरण लो, परन्तु उन्होंने गुरु जी की इस बात को बुरा माना। वे बोले—हम ऊँचे वर्ण के राजपूत इन शूद्रों के साथ कैसे खान-पान कर सकते हैं; आपके मुट्ठी भर सिक्ख मुग़ल-सम्राट का बिगाड़ ही क्या लेंगे ?

राजपूत राजाओं की ऐसी मूर्खता और कायरता देख गुरुजी को बड़ा खेद हुआ! उन्होंने समझ लिया कि इन का रोग असाध्य है; अब इनकी आशा छोड़ कर कोई दूसरा ही उपाय करना होगा। तब उन्होंने प्रतिज्ञा की—

जो धर्म रखन हित भाई, सीस दियो हमरे पित जाई।
सोऊ धर्म मैं अचल चलाऊँ। भेड़ों को मैं सिंह बनाऊँ।
गउओं से मैं शेर मराऊँ। नृप गरीबन को करवाऊँ।
राजन के संग मैं रंक लड़ाऊँ। चिड़ियों से मैं बाज तुड़ाऊँ।
सवा लाख संग एक लड़ाऊँ। तभी तो गोविन्द नाम कहाऊँ॥

गुरुजी ने अपने सिक्खों के नाम आदेश भेजा कि वैशाखी के दिन सभी लोग आनन्दपुर में एकत्र हों। आदेश पाते ही सहस्रों सिक्ख आनन्दपुर पहुँच गये। प्रथम वैशाखी को एक भारी सम्मेलन किया गया। उसमें गुरु जी ने खड़े होकर एक बड़ा ही उत्तेजना-पूर्ण भाषण दिया। जोश के कारण उनकी

आँखें लाल हो रही थीं। चेहरा तमतमा रहा था। अंग फड़क रहे थे। वे तलवार को इधर से उधर घुमा रहे थे। ऐसा जान पड़ता था मानो भूतावेश हो रहा हो। उन्होंने सारी शिष्य मंडली को संबोधन करके कहा—"मुझे आज एक ऐसे सच्चे सिक्ख की आवश्यकता है जो गुरु के लिए अपना सीस दे सके; जो इस असि साहव को अपने रक्त से तृप्त कर सके।

गुरुजी के ये शब्द सुन सारी संगति भर में सन्नाटा छा गया। किसी को आशा नहीं थी कि गुरुजी इस प्रकार की माँग करेंगे। पहली पुकार पर एक भी मनुष्य उठा। तब गुरुजी ने दुवारा गर्ज कर कहा—"क्या कोई ऐसा नहीं जो सीस भेंट कर सके ?" अब दयाराम नामक एक लाहौर का खत्री उठा। उसने हाथ जोड़ कर विनय की—"गुरुदेव, मेरा सीस आपके श्री-चरणों मे उपस्थित है। जैसी इच्छा हो इसका उपयोग कीजिए।" निकट ही एक खीमा लगा था। गुरुजी दयाराम का हाथ पकड़ कर उसी खीमे के भीतर ले गये। कुछ मिनट बाद संगति ने देखा कि खीमे मे से रक्त की धारा वह रही है, यह देख दर्शकों के हृदय काँप उठे। इस के वाद गुरुजी रक्त से भरा हुई खड्ग लिए खीमे से वाहर आये और सिक्ख संगति से फिर वोले—"मुझे एक और ऐसा सिक्ख चाहिए; जो भाई दयाराम की भाँति अपना सिर अर्पण कर सके।"

इस वार एक दिल्ली-निवासी धर्मदास नामक जाट उठा। उसे भी गुरुजी उसी प्रकार खीमे के भीतर ले गये। उसी प्रकार फिर खीमे में से रक्त की धारा एक वार फिर वह निकली। गुरुजी ने

इसी तरह तीन बार और किया। तीसरी बार मुहकमचन्द छीपा, चौथी बार साहिबराम नाई और पाँचवी बार हिम्मत नामक कहार अपना सिर देने को उठा। तब कुछ मिनट बाद गुरुजी इन पाँचों को साथ लिए खीमे से बाहर आए और संगति को संबोधन करके बोले—"ये मेरे पाँच प्यारे हैं।" फिर उन्हें छाती से लगाया। इसके बाद उन्होंने एक बासन में इन पाँचों को "अमृत छकाया" और फिर उनके हाथ से आप "अमृत छका।" इस प्रकार इस संस्कार द्वारा उन्होंने विभिन्न जातियों के लोगों को एक बर्तन में खिला कर ऊँच-नीच का भाव निकाल दिया। इस समय समूची संगति के सहस्रों कंठों से ध्वनि उठी:—

वाह, वाह, गुरु गोविन्दसिंह, आपे गुरु चेला।

इस समय से सिक्खों मे यह प्रथा चल गई है कि जब तक कोई व्यक्ति "अमृत छकने" का संस्कार न कराए तब तक वह पक्का सिक्ख नहीं माना जाता। गुरुजी ने उस समय "पाँच प्यारों" को उपदेश दिया था—

गुरु घर जन्म तुम्हारे होय, पिछले जाति-वर्ण सब खोय।
चार वरण के एको भाई, धर्म खालसा पदवी पाई॥

गुरुजी ने आज्ञा दी कि भविष्य में सब सिक्ख अपने नाम के पीछे 'सिंह' लगाया करें। और केश, कंघी, कड़ा, कौपीन और कृपाण,-ये पाँच 'क' रक्खा करें गुरुजी का अपना नाम पहले गोविन्दराय था। उन्होंने भी अब उसे बदल कर गोविन्द सिंह कर दिया।

कहते है औरङ्गजेब के भेजे हुए एक गुप्तचर, हकीम अबू तराब बहमनी ने भी आनन्दपुर मे "अमृत छका" था, और उसका सिक्ख-नाम दुष्टदमनसिंह रक्खा गया था।

एक दिन रात्रि समय गुरुजी सभा मे बैठे थे। देवदास नाम के एक ब्राह्मण ने आकर पुकार की—"भगवन्, मैं अपनी नई दुलहिन का गौना लिए आ रहा था। होशियारपुर के निकट एक "बसी" है। वहाँ जाबर खाँ नामक एक दुष्ट पठान रहता है, वह मेरी स्त्री को छीन कर अपने घर ले गया है। मै काजियों, मुल्लाओ और हिन्दू राजाओं के पास जाकर रोया हूँ। पर किसी ने मेरी सहायता नही की। अब सब जगह से निराश होकर आप के द्वार पर आया हूँ। यदि मेरी स्त्री का उद्धार नहीं होगा, तो मैं आप के द्वार के आगे जल कर मर जाऊँगा।

गुरुजी को उसकी कथा सुन कर बहुत दया आई। उन्होंने अपने पुत्र अजीतसिंह को कुछ सेना देकर उस स्त्री के उद्धार के लिए तत्काल भेज दिया। अजीतसिंह ने स्त्री और जाबर खाँ दोनों को पकड़ कर गुरुजी के सामने पेश कर दिया। गुरुजी ने स्त्री तो देवदास के सिपुर्द कर दी और उस दुष्ट जाबर खाँ को मृत्यु-दण्ड दिया।

गुरुजी मुसलमानों से इस लिए नही लड़ते थे कि वे विधर्मी है, वरन् इसलिए कि मुगल-पठान आदि शासक हिन्दू-प्रजा को कष्ट देते थे पीड़ितों के परित्राण और पराधीनों की स्वतंत्रता के लिए यत्न करना प्रत्येक सहृदय मानव का कर्तव्य है। अन्यथा राय कल्ला आदि कई मुसलमान अमीर भी गुरुजी

के भक्त थे और सरहिन्द के नवाब के दीवान सुखानन्द जैसे कई हिन्दू उनके शत्रु।

पहाड़ी राजाओं ने औरङ्गजेब को गुरुजी के विरुद्ध भड़काया। तब उसकी आज्ञा से सरहिन्द के नवाब ने आनन्दपुर पर चढ़ाई कर दी। परन्तु बादशाही सेना की पराजय हुई। तब औरङ्गजेब ने और बहुत सी सेना भेज दी। उस टिड्डीदल ने आनन्दपुर को घेर लिया। सिक्खों ने कई मास तक उनका सामना किया। परन्तु दुर्ग में खाद्य-सामग्री चुक गई। कई सिक्ख गुरुजी को छोड़ कर भाग गये। तब गुरुजी ने अपनी माता जी के साथ अपने दो छोटे बच्चों को दुर्ग से बाहर भेज दिया। उनके साथ उनका रसोइया गंगू ब्राह्मण था। वह इनको अपने घर ले गया। गुरुजी लड़ते लड़ते "चमकौर" जा निकले। उनके साथ उनके दो बड़े बेटे भी थे। वहाँ उन्होंने एक कच्ची मिट्टी की दीवार वाली हवेली में शरण ली। परन्तु बादशाही सेना ने वहाँ भी उनका पीछा न छोड़ा।

गुरुजी के साथ इस समय केवल चालीस सिक्ख थे। बादशाही सेना के दस सहस्र सैनिक कच्ची गढ़ी का घेरा डाले पड़े थे। चालीस सिक्ख दस सहस्र का सामना कर रहे थे। इनमें से भी आधे से अधिक वीर-गति को प्राप्त हो गये।

तब गोविन्दसिंह जी के बड़े पुत्र अजीतसिंह ने रण में जाने के लिए पिता से आज्ञा माँगी। उसकी छोटी अवस्था देखकर दूसरे सिक्खों ने उसे रोकना चाहा। परन्तु वह बोला, आप मेरी छोटी अवस्था को न देखिए, मेरा नाम अजीत है—

नाम का अजीत हूँ, जीता न जाऊँगा।
जीता तो ख़ैर, हार कर जीता न आऊँगा॥

अजीत शस्त्रास्त्र से सुसज्जित हो, गढ़ी से बाहर निकला। उसने ऐसा रण-कौशल दिखलाया कि शत्रु भी वाह-वाह कर उठा। अन्त में सैकड़ों शूरों को मृत्यु के घाट उतार आप भी वीरगति को प्राप्त हुआ।

अब उसके छोटे भाई जुझारसिंह ने युद्ध करने की आज्ञा माँगी, पिता ने अपने हाथ से पुत्र को कवच पहनाया। उसके साथ थोड़े से सिक्ख-योद्धा भी कर दिए। रण में जाने से पहले बालक जुझारसिंह ने प्यास बुझाने के लिए पानी माँगा। परन्तु गुरुजी ने कहा—बेटा, अब रण में जूझ कर शत्रु-शोणित से ही अपनी तृषा बुझाओ। इस पर वह प्यासा ही रण में जा कूदा और शत्रु-दल का दलन करता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ।

गुरुजी ने दोनों पुत्रों का बलिदान देखा, परन्तु उनके मुख-मण्डल पर विषाद की रेखा तक प्रकट न हुई। उन्होंने अकाल पुरुष परमेश्वर से प्रार्थना करते हुए कहा—प्रभु, तेरी धरोहर थी, देश और जाति की सेवा में वह आज मैंने तुझे लौटा दी।

चमकौर मे और अधिक ठहरना व्यर्थ देख गुरुजी अपने थोड़े से साथियों के साथ वहाँ से निकल आए और बहलोलपुर में एक मुसलमान राजपूत, रायकल्ला, के पास जा पहुँचे।

अब गुरुजी के दो छोटे बच्चों का वृत्तान्त सुनिए। उनकी दादी माता गूजरी के पास बहुत से बहुमूल्य आभूषण और कीमती जवाहरात थे। गंगू रसोइया उन को अपने गाँव सहेड़ी

में ले गया। वहाँ उसके मन में पाप समा गया। उसने धन के लोभ से दोनों बालकों, जोरावरसिंह फतेहसिंह, और उनकी दादी को मोरण्डा के शासक जानी-खाँ के हाथ पकड़वा दिया। परन्तु जानी खाँ ने गङ्गू से वह धन भी छीन लिया। तब उसे अपनी भूल का अनुभव हुआ।

जानी खाँ ने तीनों राज-बंदियों को सरहिन्द के शासक वजीर खाँ के पास भेज दिया। वजीर खाँ ने दोनों बच्चों से कहा कि इस्लाम ग्रहण करो, नहीं तो तुम्हें मृत्यु-दण्ड दिया जायगा। दोनों ने मुसलमान बनने से इनकार कर दिया। तब वजीर खाँ ने आज्ञा दी कि इनको जीते जी दीवार में चिन दिया जाय। मालेरकोटला-निवासी शेर-मुहम्मद खाँ ने नवाब को समझाया कि हमारी शत्रुता गोविन्दसिंह से है, इन निरपराध बालकों को हमें दुःख नहीं देना चाहिए, देखो, गत वर्ष जब टियाणे का नवाब नाहर खाँ युद्ध में मारा गया और उसके स्त्री-बच्चे पकड़े जाकर गोविन्दसिंह के सामने लाये गये, तो गुरु ने उनके साथ किसी प्रकार का अत्याचार न कर के उनको सम्मान-पूर्वक उनके घर वापस भेज दिया था। आपको भी इन बच्चों और उनकी वृद्धा दादी के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए। परन्तु नवाब ने उसकी बात अनसुनी कर दी और बच्चों को दीवार में चिनवा कर मरवा डाला। वृद्धा दादी ने जब यह दुःखद समाचार सुना तो वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी और फिर उसे चेत न हुआ।

गुरु गोविन्दसिंह ने जब दोनों बच्चों के आत्मबलिदान का का समाचार सुना तो उनके मुख से निकला—

धर्म हेत सुत जिनके लागे।
मातु पिता जानो वड़ भागे॥

राय कल्ला के यहाँ से गुरुजी दीना गाँव में राय जोधा के पोते शमीरे लखमीरे के पास जा पहुँचे। यहाँ उन्होंने मालवे के सब सिक्खों को इकट्ठे होने का आदेश किया। अपनी पत्नियों को भी यहीं बुला लिया। दोनों देवियाँ जब दीना पहुँची तो भारी सम्मेलन जुटा था। उन्होंने उस महा सम्मेलन मे चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। पर उन्हें उनके प्राणप्यारे पुत्र कहीं देख न पड़े। तब अधीर होकर सुन्दरी जी पतिदेव से पूछने लगीं— "प्राणनाथ; मेरे चारों लाल...?" इससे अधिक वे कुछ न कह सकीं। उनका गला रुँध गया। सारी संगति पर सन्नाटा छा गया। गुरुजी ने भी नेत्र बंद कर लिये फिर कुछ मिनट के उपरान्त आँखें खोल, सारी संगति की ओर हाथ से संकेत करके कहा—

इन पुत्रन के सीस पर वार दिये सुत चार।
चार गये तो क्या हुआ, जब जीवित कई हज़ार॥

गुरुजी के उपदेश और सान्त्वना-प्रदान से दोनों माताओं का उमड़ा हुआ शोक-सागर कुछ शान्त हुआ।

दीना से गोविंदसिह जी ने सम्राट् औरङ्गजेब को फारसी भाषा में एक पत्र लिखकर अत्याचार करना छोड़ देने को कहा। यह ऐतिहासिक पत्र "ज़फर नामा" कहलाता है। कहते हैं, सम्राट् पर इस पत्र का बड़ा प्रभाव हुआ था। वह गुरुजी के साथ मित्रता करने का यत्न करने लगा था।

अब गुरुजी के पास मालवे के सिक्ख एकत्र होने लगे। आनन्दपुर पर मुग़लों की चढ़ाई के समय कुछ सिख गुरुजी से विमुख होकर उनका साथ छोड़ आए थे। उनकी इस कायरता के लिए उनकी स्त्रियों और घरवालों ने उनको बहुत फटकारा था अपने इस कुकर्म के लिए वे बड़े लज्जित थे। उन्हें आत्म-ग्लानि हो रही थी। अपना अपराध क्षमा कराने के लिए वे गुरुजी से मिलने चले।

गुरु जी की सेना खदराना के तालाब पर डेरा डाले पड़ी थी। अभी ये लोग खदराना से कुछ मील के अन्तर पर थे कि पीछे से सरहिंद के नवाब की भेजी हुई सेना गुरु जी से लड़ने के लिए आ पहुँची। इन सिक्खों ने गुरुजी को प्रसन्न करने का यह अच्छा अवसर समझा। उन्होंने इस सेना को मार्ग मे ही रोकने और अपनी आहुति दे देने का निश्चय किया। उन्होंने सोचा, यदि मर गये तो भी और यदि जीते बचे और बादशाही सेना पर विजय पाई तो भी, गुरुजी प्रसन्न होकर हमारा अपराध क्षमा कर देंगे। बस उन्होंने वहीं डेरे डाल दिए और वन की झाड़ियों पर चादरें फैला दीं। वे उनकी आड़ में तैयार होकर बैठ गये।

बादशाही सेना ने देखा कि उनके सामने विस्तृत क्षेत्र में खीमे लगे हैं। वे समझे, गुरुजी ने यहीं मोरचा कायम कर रक्खा है। बहुत देर तक युद्ध होता रहा। परंतु सिक्ख बहुत थोड़े थे। और शत्रु-दल बहुत अधिक। सभी सिक्ख वहीं वीरगति को प्राप्त हो गये। तब बादशाही सेना आगे बढ़ी, गुरुजी ने उनका सामना

किया। यवन-सेना की हार हुई। वह मैदान छोड़कर भाग गई युद्ध के बाद जब गुरुजी रण-क्षेत्र देखने गये तो मुसलमानों की लाशों में कहीं कहीं सिक्खों की लाशे पड़ी मिलीं। पता लगाने पर मालूम हुआ कि ये "विमुख" सिक्खों की लाशें हैं जो आनंद पुर से चले आए थे। गुरुजी बहुत प्रसन्न हुए। वहीं उन्हें एक सिसकता हुआ सिक्ख पड़ा मिला। उसे पानी पिलाया गया तो उसे चेत हो आया। उसने अपनी दृष्टि गुरु जी के चरणों मे गड़ा दी और नेत्रों से जलधारा बहाने लगा। गुरु जी ने उसे पहचान कर कहा—"महासिंह, जो चाहो वर माँगो।" उसने अत्यन्त विनीत भाव से कहा—"पिता टूटे कड़े गाँठ दो। उसका भाव यह था कि हम लोगों ने आनंदपुर में आप से विमुख होकर जो संबंध तोड़ लिया था, उसे कृपा करके पुनः फिर जोड़ दीजिए। इतना कहते ही उसके प्राण निकल गए। गुरु जी ने उन सब सिक्खों को क्षमा कर दिया। और उनका नाम 'मुक्त' रख दिया। उन मुक्तों की स्मृति में वहाँ एक बड़ा गुरुद्वारा बन-वाया, जिस का नाम "मुक्तसर" रक्खा। वहाँ अब तक प्रति वर्ष मेला लगता है।

सैकड़ों वर्षों से अत्याचार सहते सहते हिंदुओं की मनोवृत्ति हार की मनोवृत्ति बन चुकी थी। उन पर मुगलों का बड़ा भारी आतङ्क छा रहा था। गुरुजी ने उनकी इस मनोवृत्ति को बदलने का यत्न किया। एक दिन किसी ने गुरुजी के सामने कहा—

नील वस्त्र ले कपड़े पहने, तुर्क पठानी अमल भया!

इस पर गुरुजी ने झट कहा—

नील वस्त्र ले कपड़े फाड़े, तुर्क पठानी अमल गया।

इतना कहते ही उन्होंने अपने नीले कपड़े उतार कर फाड़ डाले और सफेद वस्त्र पहन लिए। वे अपने सिक्खों का उत्साह बढ़ाते हुए कहा करते थे—

धन्य जिउ तहँ को जग में मुख ते हरि चित्त में युद्ध विचारै।
देह अनित्य न नित्य रहे यश नाव चढ़े भव-सागर तारै॥

अब गुरुजी देशाटन के लिए दक्षिण की ओर निकल गये। वहाँ नाँदेड़ में उन्होंने माधोदास वैरागी से भेंट की। यह वैरागी वास्तव में पंजाब के अन्तर्गत पुंछ राज्य के रहने वाले थे। लोगों में इनकी बड़ी मानता थी। ये बड़े वीर थे। गुरुजी ने उन्हें पंजाब की दुरवस्था सुनाकर उसकी सुधि लेने को कहा वैरागी ने उनकी बात मान ली और पंजाब चले आये। पंजाब मे आकर उन्होंने मुगलों से उनके अत्याचारों का खूब बदला लिया। सरहिंद के नवाब और उसके दीवान सुचानन्द को, जिन्होंने गुरु के बच्चों को दीवार में चिनवाया था, पकड़ कर मार डाला। गुरु जी की मृत्यु के बाद भी वे मुगलों से लड़ते रहे और उन्होंने मुगलों से बहुत से प्रदेश छीन कर सिक्खों को दे दिये। परन्तु अन्त को सिक्खों के साथ अनबन हो जाने से वे पकड़े गये और मुगल-सम्राट् ने दिल्ली में उन्हें बड़ी निर्दयतापूर्वक मरवा डाला।

औरङ्गज़ेब की मृत्यु हो जाने से उसके बेटों में गद्दी के लिए झगड़ा शुरु हुआ। उसके एक बेटे आज़म शाह ने अपने छोटे भाई कामबख़्श को धोखे से मार डाला और राजमुकुट सिर पर रख लिया। औरंगज़ेब का तीसरा बेटा बहा-

दुर शाह उन दिनों अफगानिस्तान मे था। पिता की मृत्यु का समाचार पाते ही वह तुरन्त भारत को लौटा। उसका मंत्री दीवान नन्द लाल गोविंदसिंह जी का भक्त था। उसकी सिफारिश से गुरुजी ने बहादुर शाह की सहायता देना स्वीकार कर लिया। आगरा के निकट आजमशाह से युद्ध हुआ। गुरुजी के एक ही बाण से वह मर कर धराशायी हो गया। उसकी मृत्यु के बाद बहादुर शाह राजसिंहासन पर बैठा और उसने गुरुजी का बड़ा आभार माना।

वीर वैरागी को पंजाब भेजने के बाद गुरु गोविन्दसिंह आप गोदावरी तीर पर रहने लगे। गुल खाँ और अताउल्ला खाँ नाम के दो भाई उनके पास नौकर थे। उनका पिता गुरुजी के हाथ से मारा गया था। एक दिन, गुरुजी अकेले सो रहे थे। गुल खाँ ने बदला लेने के भाव से उनके पेट मे छुरा भोंक दिया। गुरुजी ने उठकर उस पर तलवार का ऐसा प्रहार किया कि वह वहीं कट कर मर गया। गुरुजी के घाव समय पाकर भर गये। परन्तु एक दिन उन्होंने एक भारी धनुप पर चिल्ला चढाया। इससे उनका घाव फिर खुल गया। बहुत दवा-दारू किया, परन्तु वह घाव चंगा न हुआ। कार्तिक शुदी पंचमी संवत् १७६५ विक्रमी को वे अपनी इहलीला समाप्त कर गये।

गुरुजी केवल योद्धा, धर्म-प्रवर्तक, और समाज-सुधारक ही नहीं थे वरन् बड़े अच्छे कवि और साहित्यिक भी थे। उनकी राजसभा मे कवियों का खूब सम्मान होता था। उनकी बनाई हुई अकाल-स्तुति, विचित्र-नाटक, चण्डी-चरित्र, जप-ज्ञान प्रबोध,

श्रीरण-खम्भ कला चरित्र, नूपकुँवरि चरित्र, दशम ग्रन्थ आदि कई पुस्तकें मिलती हैं। मरने से पहले उन्होंने सिक्खों को यह उपदेश दिया था—

आज्ञा भई अकाल की तभी चलायो पन्थ।
सब सिक्खन को हुकम है गुरु मानियो ग्रन्थ॥



रणजीतसिंह

(सन् १७८०—१८३८)

सिक्खों जैसे धार्मिक और नम्र सम्प्रदाय का एक प्रबल राजनीतिक शक्ति में परिणत हो जाना भारतीय इतिहास में एक आश्चर्यजनक घटना है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक गुरु नानक का जन्म पन्द्रहवीं शती के मध्य में पंजाब के अन्तर्गत तलवंडी (ननकाना साहब) नामक गाँव में हुआ था। परम सन्त कबीर की भाँति नानक देव भी हिन्दू-मुस्लिम-एकता के इच्छुक थे। कबीर का कथन था कि "परमेश्वर एक है, उसे चाहे राम कहो और चाहे रहीम; हिन्दुओं का परमेश्वर काशी में रहता है और मुसलमानों का मक्के में, परन्तु जिस प्रभु ने इस जगत को रचा है, वह मनुष्य के बनाए किसी नगर में नहीं रहता" नानकदेव के हृदय में भी यही भाव काम कर रहा था। मुसलमान शासक से उन्होंने कहा था—

"प्रेम की मसजिद, निष्कपटता का मुसल्ला, और न्याय का कुरान बनाइए; लज्जा का खुतना, सौजन्य का काबा, सत्य को गुरु, दान को धर्म, और ईश्वरेच्छा को अपनी सुमिरनी मानिए।"

नानकजी से जब पूछा गया कि आप परमेश्वर के घर (मक्का) की ओर पाँवों करके क्यों सोए हैं; तो उन्होंने उत्तर दिया—"वह स्थान बताइए जहाँ परमेश्वर नहीं।" नानकजी

मुसलमानों की मसजिदों, जैनों के मन्दिरों, और हिंदुओं के तीर्थों में प्रचार करते फिरते थे। कालान्तर में बहुत से लोग उनके अनुयायी हो गये। ये लोग शिष्य या सिक्ख कहलाते थे। ये नानकजी को अपना गुरु मानते थे। नानकजी 'कर्म' और 'पुनर्जन्म' के सिद्धांत मे तो विश्वास रखते थे, परन्तु वे वर्ण-भेद, मूर्त्ति-पूजा, और सब से बढ़कर ब्राह्मणों की प्रभुता के कट्टर विरोधी थे। जाति-भेद की बुराइयों के सम्बंध म उन्होंने कहा है—

"पाप-बुद्धि चाण्डालिनी है; निर्दयता कसाइन है; निन्दक हृदय भङ्गिन है; क्रोध अछूत स्त्री है; चौके के इर्द-गिर्द लकीरें खेंचने से क्या लाभ जब ये तीनों तेरे साथ बैठी हैं।"

नानक मृत्यु-शय्या पर पड़े थे। लोग आपस में झगड़ने लगे कि इनके शव को हिन्दुओं की तरह जलाया जाय या मुसलमानों की तरह गाड़ा जाय। किंवदन्ती है कि उनको झगड़ते सुन नानक जी ने कहा कि मेरे हिन्दू शिष्य मेरे दाहिनी ओर फूलों का ढेर लगा दे और मुसलमान शिष्य बाईं ओर; कल सवेरे तक जिनके फूल ताजा रहेंगे वही मेरा शव लेले। दूसरे दिन सवेरे देखा तो दोनों ढेरों के फूल ताजा थे। परन्तु जब कफन उठाया तो शव गायब था।

मरने के पहले नानकजी ने अपना उत्तराधिकारी नियत कर दिया था। सिक्खों के पहले चार गुरु केवल शान्ति-प्रिय धर्मोपदेष्टा थे। उनकी शिष्य-मण्डली दिन पर दिन बढ़ती जाती थी। जहाँ आजकल अमृतसर है वहाँ चौथे गुरु रामदास

ने एक सरोवर बनवाया और उसका नाम अमृतसर रक्खा। फिर उसके गिर्द एक बड़ा नगर बस गया। पाँचवे गुरु अर्जुन ने सिक्खों की धर्म-पुस्तक, आदि ग्रन्थ, का संकलन किया। जहाँगीर से गुरु अर्जुन का बिगाड हो गया, क्योंकि खुसरो के विद्रोह मे उन्होंने उसका साथ दिया था। सम्राट ने गुरु पर जुर्माना किया, जो गुरु ने न दिया, फलतः उन्हें फाँसी दी गई। इस घटना ने सिक्खो के सारे दृष्टि-कोण को बदल दिया।

गुरु अर्जुन के बाद जब हरगोविन्द को गुरुपद मिलने लगा और गुरुपद के चिंह, पगड़ी और गले का हार, उनको दिए जाने लगे तो उन्होंने कहा—"मेरी तलवार की पेटी ही मेरा हार है; मेरी पगड़ी पर राजकीय कलगी होगी।" नवे गुरु तेग बहादुर को सम्राट् औरङ्गजेब ने बंदी करके मार डाला।

तेग बहादुर की मृत्यु के बाद उनके पुत्र दसवे गुरु गोविन्द सिह पर्वतों मे जा छिपे। कुछ काल के उपरांत जब वे लौट कर आए तो सहस्रों सिक्ख उनके झडे तले एकत्र हो गये। गोविन्दसिह ने सिक्खों को एक लडाकू श्रेणी बना दिया। वे मुग़ल साम्राज्य के विरुद्ध निरंतर लडने लगे। वे अपने नाम के पीछे 'सिह' लगाते थे। उनमें से प्रत्येक को पॉच 'क' अर्थात् केश, कड़ा, कघी, कच्छा और कृपाण रखने का आदेश था। गुरु गोविन्दसिह की मृत्यु के पश्चात् बाबा बदा मुगलों के विरुद्ध युद्ध करते रहे। परन्तु अन्त मे वे भी पकड़े गये और दिल्ली मे उनकी हत्या कर दी गई।

मुग़ल साम्राज्य के भंग हो जाने से अठारहवी शती मे बड़ी

भारी अराजकता फैल गई। पंजाब पर उत्तर-पश्चिम से अफगानों ने और दक्षिण से मराठों ने आक्रमण कर दिए। पंजाब में किसी का भी राज्य न रहा। अब सिक्खों में फूट पड़ चुकी थी। वे बारह मिसलों या संघों में विभक्त हो गये थे। इनमें से प्रत्येक मिसल अपनी पड़ोसी मिसल से द्वेष रखती थी। सिक्खों का चरित्र भी बहुत कुछ गिर चुका था। वे मदिरा और भाँग में डूब रहे थे। पंजाब में कोई राज्य-व्यवस्था नहीं थी। जिसकी लाठी उसी की भैंस वाली बात थी।

पंजाब की ऐसी ही दुर्दशा थी, जब सन् १७८० में रणजीतसिंह का जन्म हुआ। उनका पिता मोहनसिंह सुकरचक्रिया मिसल का मुखिया था। भङ्गियों की मिसल से इस मिसल की सदा लड़ाई रहती थी। दस वर्ष की अवस्था में रणजीत पहली बार लड़ाई में लड़ने गये। सन् १७९२ में उनके पिता का देहान्त हो गया। इस समय रणजीतसिंह की आयु १२ वर्ष की थी। अब वे अपनी मिसल के मुखिया बन गये। रणजीतसिंह की माँ और सास बड़ी प्रबल स्त्रियाँ थीं। इन्होंने सारी राज्यसत्ता अपने हाथ में ले रक्खी थी। वे स्वयं सेना का नेतृत्व करती थीं। रणजीतसिंह ने सबसे पहला काम यह किया कि इन दोनों से शासन की बागडोर छीन ली।

अब रणजीतसिंह स्वाधीन थे। एक शुभ संयोग से लाहौर पर उनका अधिकार हो गया। अफगानिस्तान के अमीरशाह ज़मान ने भारत पर धावा किया था। परन्तु जेहलम में बाढ़ आ जाने से उसे बारह तोपें छोड़ कर वापस जाना पड़ा था।

उन दिनों तोप एक बड़ी कीमती चीज़ समझी जाती थी। रणजीत सिंह ने शाह जमान से कहा कि यदि आप मुझे लाहौर का शासक स्वीकार कर ले तो मैं आपकी तोपे निकलवा कर पेशावर भेज दूँगा। शाह जमान ने उनकी शर्त मान ली और जुलाई सन् १७९९ मे लाहौर पर रणजीतसिंह का अधिकार हो गया। इसके तीन वर्ष बाद उन्होंने अमृतसर पर चढ़ाई कर दी। उस समय अमृतसर भङ्गियों की मिसल के हाथ में था। रणजीतसिंह ने उनसे 'जमज़मा" नाम की तोप माँगी। यही आजकल "भङ्गियों की तोप" कहलाती है। यह तोप हिन्दुओं से जज़िया के रूप मे काँसे के बर्तन लेकर बनाई गई थी। यह किसी समय रणजीत के दादा चढ़तसिंह के पास भी रही थी।

रणजीतसिंह को तोपों और घोड़ियों से बड़ा प्रेम था। भङ्गी लड़ाई में ठहर न सके। उनकी हार से अमृतसर और "जमज़मा" दोनों रणजीतसिंह के हाथ आ गये। अब रणजीतसिंह पंजाब मे सर्वोपरि शासक हो गये और उन्होंने महाराजा की उपाधि धारण कर ली।

अब रणजीतसिंह का संपर्क अँगरेजों से हुआ। लार्ड लेक के होलकर को हरा देने से अँगरेजों के राज्य की सीमा सतलुज के किनारे तक आ पहुँची थी। उन्होंने सतलुज के उस पार के सभी फुलकियन सिक्ख राज्यों को अपने संरक्षण मे ले लिया था। परन्तु रणजीतसिंह उन सब सिक्ख राज्यों को अपने अधीन रखना चाहते थे। सन् १८०६ मे जीन्द और पटियाला के सिक्ख शासकों में कुछ झगड़ा हो गया। राजा रणजीतसिंह उनके

मध्यस्थ बनने के लिए एक बड़ी सेना के साथ सतलुज के पार जा पहुँचे। कुछ समय तक तो ऐसा जान पड़ा कि अँगरेज़ों और रणजीतसिंह में मुठभेड़ हो जायगी। परन्तु अँगरेजों को उत्तर-पश्चिम से फराँसीसियों या रूसियों के आक्रमण का डर था इसलिए वे टक्कर से बचने के लिए अपने और उनके बीच सिक्खों को रखना चाहते थे। दूसरी ओर रणजीतसिंह भी अँगरेज़ों की प्रबल शक्ति को जानते थे। इस लिये वे भी उन से लड़ना नहीं चाहते थे। उन्हें यह भी डर था कि मैं जब सतलुज के पार लड़ रहा हूँगा तो कहीं पीछे से अफगान या गुरखे मुझ पर आक्रमण न कर दें या दूसरी मिसलों के सिक्ख ही मेरे विरुद्ध न उठ खड़े हों। इसलिए जब सन् १८०८ में लार्ड मिण्टो ने चार्लस मटकाफ को रणजीतसिंह के पास सधि करने अमृतसर भेजा तो वे बहुत प्रसन्न हुए। इस संधि के अनुसार सतलुज नदी अंग्रेजों और रणजीतसिंह के साम्राज्यों में सीमा मानी गई।

इन्हीं दिनों एक घटना हो गई। मटकाफ के साथ जो थोड़ी सी अंगरक्षक सेना आई थी उसकी टक्कर अकाली सिक्खों के साथ हो गई। इस मुठभेड़ में महाराजा ने अनुभव किया कि योरोपियन रीति से सधी हुई थोड़ी सी सेना के सामने बड़ी सेना भी ठहर नहीं सकती। इसलिए उन्होंने कुछ विदेशी अफ़सर नौकर रखकर अपनी सेना को सधाने का निश्चय किया। इन में सबसे अधिक महत्त्व के अफ़सर जनरल वेन्तूरा और जनरल एलार्ड थे। ये पहले नेपो-

लियन की सेना मे थे। परन्तु उसके पतन के उपरान्त ये फारस के शाह के यहाँ नौकर हो गये थे। इनके अतिरिक्त कर्नल कोर्ट और गार्डनर नाम का एक आयरिश तोपची भी थे। इनके बाद अवीतवाईल नाम का एक और फ्रेञ्च जनरल भी आ गया। अब तक सभी सिक्ख सिपाही घुड़सवार होते थे। वे पैदल सिपाही बनने को नीच काम समझते थे। वेन्तूरा ने सिपाहियों को नियमपूर्वक सधा कर एक ब्रिगेड तैयार की। इसी नमूने पर महाराजा ने २६००० युवकों और १९२ तोपों की एक प्रवल खालसा फौज संगठित की। इस सेना को वे धीरे-धीरे बढ़ाते रहे।

इस प्रवल सेना के साथ अब उन्होंने सारे पंजाब का महाराजा बनने की ठानी। उनका पहला वज्र मुलतान पर गिरा। वहाँ के शासक नवाब मुजफ्फर खाँ ने कर देने से इनकार कर दिया था। सन् १८१८ मे रणजीतसिंह ने मुलतान को घेर लिया। "जमज़मा" तोप से पत्थर के गोले बरसा कर वे दुर्ग की दीवारों को तोड़ने लगे। परन्तु ज्यों ही दीवार मे कोई छेद हो जाता, झट दुर्ग वाले उसकी मरम्मत कर देते, और हाथों हाथ लड़ाई मे आक्रमणकारियों को पीछे हटा देते। घेरा कई मास तक पड़ा रहा। अन्त मे दुर्ग की सेना घटते घटते केवल ३०० मनुष्य रह गये। २ जून को कुछ अकालियों ने एक महत्त्वपूर्ण बुर्ज पर अधिकार करके भीतर जाने के लिए मार्ग बना लिया। परन्तु फिर भी सफेद दाढ़ी वाला बूढ़ा नवाब अपने आठ बेटों और बचे खुचे सिपाहियों के साथ युद्ध करता ही रहा। सिक्खों

ने मुज़फ्फर खाँ और उसके पाँच लड़कों को बन्दूक का निशाना बना दिया। तब बाकी तीन बेटों ने हथियार रख दिए। मुलतान-विजय से महाराजा के हाथ कोई तीन करोड़ रुपये का माल आया।

अब महाराजा ने काश्मीर-विजय का विचार किया। मूलतः उनका विचार अफगानों के साथ मिल कर काश्मीर पर चढ़ाई करने का था, क्योंकि सिक्ख लोग पहाड़ की लड़ाई मे अधिक अच्छे न थे। परन्तु अफगान-सेनापति ने चुपके से आप ही काश्मीर पर अधिकार कर लिया और महाराजा को लूट का भाग देने से इनकार कर दिया। इसका बदला लेने के लिए रणजीतसिंह ने अटक के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। फलतः १३ जुलाई सन् १८१३ को हज़रो पर सिक्खों और अफगानों के बीच घमासान युद्ध हुआ। युवराज दोस्त मुहम्मद खाँ ने, जो पीछे से काबुल का शासक बना, रिसाले के साथ धावा बोल कर सिक्खों की पंक्ति को तोड़ डाला। परन्तु बाद को सिक्खों के सेनापति दीवान मुहकमचन्द ने उसे भगा दिया। सन् १८२३ में महाराजा के सेनापति सरदार हरिसिंह नलवा ने काश्मीर को जीत लिया। परन्तु उसके बाद भी हज़ारा आदि पहाड़ी जातियाँ महाराजा के विरुद्ध लड़ती रहीं।

पेशावर पर अधिकार हो जाने से रणजीतसिंह की पंजाब-विजय संपूर्ण हो गई। पेशावर का शासक उस समय यार मुहम्मद खाँ नाम का एक अफगान जनरल था। महाराजा का पेशावर पर आक्रमण करने का एक कारण यह भी था कि वे

लैली नाम की एक सुन्दर अरबी घोड़ी लेना चाहते थे। कहते है उस जैसी सुन्दर कोई दूसरी घोड़ी सारे एशिया में नहीं थी। महाराजा ने यार मुहम्मद को पकड़ कर कैद कर दिया और कहा कि जब तक तुम घोड़ी न दोगे, कैद से छूट न सकोगे। महाराजा गर्व से कहा करते थे कि इस घोड़ी के लिए मुझे साठ लाख रुपया और १२,००० सैनिकों की बलि देनी पड़ी है। बैरनवान हूगल नाम का जर्मन पर्यटक लिखता है कि लैली का रंग मटियाला था, उस पर काली बुन्दकियाँ थीं। वह सोलह हाथ ऊँची थी। उस पर बड़ी कीमती झूल थी। उसके अस्तबल में चाँदी का पतरा मढ़ा था। उस के गामचों मे सोने की चूड़ियाँ थीं।

शिवाजी और अकबर की भाँति रणजीतसिंह भी कुछ पढे लिखे न थे। परन्तु वे बड़े प्रबुद्ध थे। उन के मन में नई नई बातें जानने की जिज्ञासा सदा बनी रहती थी। उनकी राजसभा मे सभी धर्मों और सभी राष्ट्रों के लोग रहते थे। उनका प्रधान मंत्री बुखारा-निवासी फकीर अजीजुद्दीन था। वह चिकित्सक था। सभी महत्व-पूर्ण अवसरों पर महाराजा उस से परामर्श लिया करते थे। किसी मुहिम पर जाते समय महाराजा शासन की बागडोर उसी के हाथ मे दे जाया करते थे। अजीजुद्दीन सूफी मत का अनुयायी था। तुम हिन्दू हो या मुसलमान? इस प्रश्न के उत्तर मे वह कहा करता था—"मैं एक ऐसा मनुष्य हूँ जो नदी की प्रबल धारा मे बहता जा रहा है। मैं स्थल पर दृष्टिपात करता हूँ, परन्तु नदी के दोनों किनारों मे भेद नहीं कर सकता।" वह फारसी और अरबी का बडा भारी विद्वान था।

फकीर अजीजुद्दीन ही परराष्ट्र-सचिव था। अर्थसचिव राजा दीनानाथ था। इस ने राजस्व का बहुत अच्छा प्रबंध किया था। अँगरेजों की बढ़ती हुई प्रभुता को देख पहले तो महाराजा को बड़ा संदेह हुआ। एक दिन भारत के मानचित्र को देख उन्होंने दुःख से कहा—"एक दिन यह सब लाल हो जायगा।" परन्तु फकीर अज़ीजुद्दीन के समझाने का फल यह हुआ कि महाराजा के जीवन-काल में अँगरेज़ों के साथ कोई मुठभेड़ नहीं हुई। रणजीतसिंह का तीसरा प्रसिद्ध दरबारी लहनासिंह था। वह खालसा के लिए तोपें ढलवाया करता था। नागरिक प्रबंध और सेना-विभाग के लिए विभिन्न श्रेणियों और राष्ट्रों से मन्त्री और दरबारी चुनने का फल यह हुआ कि महाराजा के विरुद्ध कोई षड्यंत्र न खड़ा हो सका। महाराजा के पास योरोपीय सेनापति तो थे ही, समय समय पर और योरपीय पर्यटक भी आते रहते थे।

जब सन् १८३१ मे लार्ड विलियम बेंटिक भारत आया, तब ब्रिटिश गवर्नमेंट मध्य एशिया में रूस के बढ़ने से चिन्तातुर हो रही थी। इसलिए नए गवर्नर जनरल को पंजाब-केसरी के साथ संधि करने का आदेश हुआ। दोनों शासक रोपड़ मे मिले। एक बड़ा दरबार किया गया। कई दिन तक चहल पहल रही। फलतः दोनों राष्ट्रों में संधि हो गई।

ब्रिटिश गवर्नमेंट को अभी तक भी रूस का हौआ तंग कर रहा था। उस ने दोस्त मुहम्मद को अफगानिस्तान की गद्दी से उतार कर उसकी जगह शाह शुजा को बैठाने का संकल्प किया।

शाहशुजा एक कठपुतली था। वह अपने देश से निर्वासित होकर चिरकाल तक पंजाब मे रह चुका था। उसके संबध मे रणजीतसिंह की राय अच्छी न थी। जब उसने पहले लाहौर में शरण ली थी तो उसके पास इतिहास-प्रसिद्ध "कोहेनूर" अर्थात् "प्रकाश-पर्वत" नाम का हीरा था। महाराजा ने वह उससे बरजोरी छीन लिया।

अब लार्ड विलियम बेंटिङ्क जा चुका था और उसकी जगह लार्ड आकलेंड गवर्नर जनरल होकर आया था। पहली संधि के सात वर्ष बाद आकलेड और महाराजा मे दुबारा संधि हुई। अब के इस संधि मे शाह शुजा भी सम्मिलित था। इसी के अनुसार वह काबुल की गद्दी पर बैठने जा रहा था। यह सारी योजना मूलत. गलत थी। महाराजा इसको बड़ी संदेह की दृष्टि से देखता था। परन्तु उन्होंने अपने साथी अँगरेजों का पूरी तरह समर्थन किया। महाराजा का स्वास्थ्य उस समय बहुत गिर रहा था। जून सन् १८३९ मे उनकी मृत्यु हो गई। एक तो जीवन भर रणक्षेत्र में निरन्तर आयास करने और दूसरे चिकित्सक के मना करने पर भी बहुत अधिक सुरापान करने से उनकी लोहे जैसी पुष्ट देह को घुन लग गया था। उन्हे कई बार मिरगी के दौरे हो चुके थे। मृत्यु से पहले उन्होंने अपने सब रत्न और राजकीय घोड़े विभिन्न धर्म-स्थानों को दान कर दिये। दो रानियाँ उनके साथ सती हो गई। मृत्यु के समय उनकी आयु केवल उनसठ वर्ष की थी।

महाराजा रणजीतसिंह अपने समय का सबसे बड़ा भारतीय था। उसके प्रादुर्भाव के समय पंजाब मे अराजकता फैली हुई

थी; लोग आपस में लड़ रहे थे, अफगान और मराठे इसे दबा रहे थे, और वह अंगरेज़ों के हाथ में जाने को तैयार था। रणजीतसिंह ने बहुत से छोटे-छोटे रजवाड़ों को संयुक्त करके एक राज्य बनाया। उन्होंने काबुल से उसका सब से सुन्दर प्रान्त छीन लिया, और अँगरेज़ों जैसी प्रबल शक्ति के साथ भी बना कर रक्खी। उन्होंने अपनी सेना को नियम-पूर्वक युद्ध-कला की शिक्षा दिलाई। मरते समय उनके पास पचास सहस्र सधे हुए सिपाही, पचास सहस्र शस्त्रास्त्र से सुसज्जित स्वयंसेवक, और तीन सौ से अधिक तोपें थीं। विक्टर जैक्यूमाण्ट नामक पर्यटक लिखता है कि रणजीतसिंह एक असाधारण व्यक्ति थे, छोटे पैमाने पर बोनापार्ट थे; सर्वतोमुखी प्रतिभा, धार्मिक और वंशगत सहिष्णुता एवं प्रबंध-योग्यता में वे अकबर के समान थे। उनका डील छोटा था। अपने वस्त्रों पर वे ध्यान नहीं देते थे, उनके चेहरे पर झुर्रियाँ और चेचक के गहरे दाग़ थे।

लार्ड आकलैंड की पुत्री मिस ईडन महाराजा के विषय में लिखती हैं—"उन्होंने अपने पराक्रम से अपने को एक बड़ा राजा बना लिया; वे बड़े ही न्यायप्रिय हैं, क्वचित ही प्राणदण्ड देते हैं। और उनकी प्रजा उन पर बहुत प्रेम रखती है।" पंजाब की युद्ध-प्रिय और उद्धत जातियों पर नर्मी से शासन करना संभव न था। इस लिए महाराजा के उत्तरी प्रदेश का अध्यक्ष जनरल अवीतावाइल लुटेरों को उनके गाँव के द्वार पर फाँसी लगा कर लटका देता या उनको तोप से उड़ा देता था।

रणजीतसिंह किसानों से उतना ही लेता था जितना वे

आसानी से दे सकते थे। उसने लूट-मार को दबा दिया। सिक्ख किसान उससे बहुत सन्तुष्ट थे। महाराजा आप देश में दौरा किया करते थे। जो अफसर प्रजा को दुःख देता था उसे दण्ड दिया जाता था। जिस गाँव के निकट डाका पड़ता था, उस गाँव के लोगों को पकड़ कर उनसे लूटे गये माल का मूल्य भर लिया जाता था; सिपाहियों द्वारा लूटा गया माल उनसे वापस दिला दिया जाता था। एक समय था जब सिक्ख को धाड़वी (लुटेरे) का पर्यायवाची समझा जाता था, परन्तु अब बहुत कम चोरियाँ सुनी जाती थीं; सरदारों द्वारा लूट-मार तो बिलकुल ही बंद हो गई थी। अकाल के दिनों में महाराजा भूमि का राजस्व किसानों को माफ कर देते थे और दरिद्रों को अपने पास से नाज बाँटते थे।

महाराजा का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। बचपन में चेचक से उनकी एक आँख नष्ट हो गई थी। जब गवर्नर जनरल ने अज़ीजुद्दीन से पूछा कि महाराजा की कौनसी आँख अँधी है, तो उसने उत्तर दिया—"महाराजा के मुखमण्डल का तेज इतना प्रचण्ड है कि मुझे उसकी ओर आँख उठाकर देखने का कभी साहस भी नहीं हुआ।"

महर्षि दयानन्द

(संवत् १८८१ विक्रमी—सवत् १९४० विक्रमी)

संसार में बड़े-बड़े राजे-महाराजे, बड़े-बड़े सेठ-साहूकार, और बड़े-बड़े बली-योद्धा हो गये, और आज कोई उनका नाम तक नहीं जानता। किन्तु जिन लोगों ने अपने जीवनों को परोपकार में लगाया, जिन्होंने आप कष्ट उठा कर दूसरों को सुख पहुँचाया, उनका नाम अमर है। संसार अब तक उनका गुण-गान करता है। वास्तव में ऐसे ही नर-नारियों का जीवन धन्य है।

आज से सौ वर्ष पहले इस देश की धार्मिक और सामाजिक दशा बहुत बुरी थी। धर्म का वास्तविक तत्त्व बिलकुल लुप्त हो चुका था। सारा बल बाहरी चिह्नों पर ही था। माथे पर टीका लगाना, कान फड़वा कर मुद्रा डालना, किसी के हाथ का न खाना, छोटी जाति के मनुष्य के साथ छू जाने पर स्नान करना इत्यादि बातों को ही धर्म समझा जाता था। स्त्रियों को पैर की जूती समझा जाता था। शूद्रों की छाया तक से घृणा थी। लड़के और लड़कियों के विवाह बहुत छोटी आयु में कर दिये जाते थे। इस से बहुत बड़ी संख्या में लड़कियाँ विधवा हो जाती थीं।

हिन्दुओं का संगठन बिलकुल टूट चुका था। उनको एक राष्ट्रीयता के सूत्र में पिरोने वाली कोई भी चीज़ न थी। पादरी

लोग ईसाई धर्म का खूब प्रचार कर रहे थे। देश का सर्वनाश मूर्तिमान होकर चारों ओर डरा रहा था। इस अविद्या और अंधकार के समय इस देश में एक महापुरुष आया। उसका आगमन अमावस्या की अंधकारमयी रजनी में चंचला की चमक के समान या तूफ़ान से ठाठें मारते हुए महासागर में प्रकाश-स्तम्भ के समान था। वह था बाल-ब्रह्मचारी स्वामी दयानन्द।

श्रीयुत अरविन्द ने इनके बारे में लिखा है—"दयानन्द का व्यक्तित्व, अपनी प्रणाली और अपने काम के कारण, अद्भुत था। दृष्टान्त से यों समझिए कि कोई व्यक्ति देर तक एक पर्वत-माला के बीचों-बीच चला जा रहा है। पर्वतों में से कोई बहुत ऊँचे हैं और कोई कम। परन्तु अतीव सुन्दर, रमणीय और अपनी विशेष ऊँचाई के कारण सबके सब चित्ताकर्षक हैं। फिर उनमें एक पर्वत बिलकुल अलग खड़ा है। बड़ा महत्त्वशाली और सुदृढ़ प्रस्तरमय है। उस की चोटी पर हरियाली दीख पड़ती है और एक अकेला देवदार का वृक्ष आकाश से बातें कर रहा है। इस पर्वत के भीतर से स्वच्छ और उपजाऊ जल का प्रबल स्रोत बड़े वेग से बहता हुआ उपत्यका की ओर दौड़ रहा है, मानो वह उस उपत्यका का जीवन-मूल है। यही संस्कार है जो दयानन्द का व्यक्तित्व मेरे मन पर डालता है।"

काठियावाड़ में मोरवी एक छोटा सा राज्य है। उसमें टङ्कारा नाम का एक गाँव है। उसमें करशनजी नाम का एक बड़ा

ज़मींदार रहता था। उसी के घर में संवत् १८८१ विक्रमी में दयानन्द का जन्म हुआ था। माता-पिता ने पहले इनका नाम मूलजी रक्खा। कुछ लोग उन्हें दयाल जी भी कहते थे।

मूल जी के पिता शिवजी के उपासक थे। वे शिवरात्रि को व्रत और उपवास किया करते थे। शिव की मूर्ति के सामने बैठ कर वे रात भर जागते थे। जब मूल जी चौदह वर्ष के हुए तो पिता ने उन्हें भी व्रत रखने पर बाध्य किया। माता ने बहुतेरा कहा कि लड़का छोटा है, यह भूखा न रह सकेगा, परन्तु पिता ने एक न मानी। रात को शिवजी के सारे भक्त मन्दिर में इकट्ठे हुए। कुछ देर तक तो वे शिव का मूर्ति के सामने बैठे रहे। परन्तु आधी रात होने पर निद्रा ने उन्हें आ दबाया। एक एक करके सब सो गये। कर्सन जी ऊँघते ऊँघते खुर्राटे लेने लगे। केवल एक मूलजी जागते रहे।

सबके सो जाने से जब मंदिर में सन्नाटा छा गया तो एक चुहिया बिल से निकली और शिव की मूर्ति पर चढ़ कर चढ़ावे की मिठाई खाने लगी। बालक मूल जी यह देख कर बड़े चकित हुए। वे सोचने लगे कि यह पत्थर की प्रतिमा त्रिलोक का स्वामी शिव नहीं हो सकती, क्योंकि यह तो अपने ऊपर से एक छोटी सी चुहिया को भी नहीं हटा सकती। उन्होंने अपने पिता को जगा कर अपना संदेह उन पर प्रकट किया। पिता ने पुत्र को समझाने का बहुतेरा यत्न किया परन्तु वह उसे मूर्त्ति के शिव होने का विश्वास न करा सका।

इस घटना के कुछ काल उपरान्त मूलजी की बहन और

चाचा का देहान्त हो गया। मूलजी का इन दोनों पर बड़ा प्रेम था। इनकी मृत्यु से उन्हें बड़ा दुःख हुआ। संसार की असारता मूर्त्तिमान होकर उनकी आँखों के सामने नाचने लगी। वे एक विद्वान से संस्कृत पढ़ा करते थे। उन्होंने उस से पूछा कि मृत्यु से बचने का भी कोई उपाय है? गुरुजी ने बताया कि मृत्यु सबके लिए अनिवार्य है। केवल ब्रह्मचर्य और योगाभ्यास से ही उसे जीता जा सकता है।

यह सुन मूलजी ने योग सीखने का निश्चय किया। उधर उनके पिता को जब उनके ऐसे विचारों का पता लगा तो उन्होंने चटपट पुत्र का विवाह कर देने की ठानी, जिस से पुत्र कहीं साधु न हो जाय। यह देख मूलजी घबराए। उन्होंने देखा कि घर में रह कर विवाह से बचना कठिन है। बस उन्नीस वर्ष की आयु में एक दिन, रात के समय, वे घर से निकल पड़े। वे सड़क छोड़कर पगडंडियों से चलने लगे और दिन-रात चलते-चलते सिद्धपुर नामक स्थान पर जा पहुँचे।

सिद्धपुर में एक बड़ा मेला था। मूलजी वहाँ साधु-महात्माओं से मिल कर मृत्यु से छूटने के उपाय सीखना चाहते थे। यहाँ उन्हें एक साधु मिला। वह उनके परिवार से परिचित था। उसने टङ्कारा जाकर उनके पिता से सारी बात कह दी। उधर पिता पुत्र की तलाश में हैरान हो रहे थे। समाचार पाते ही वे कुछ सिपाही लेकर पुत्र को पकड़ने के लिए झट सिद्धपुर जा पहुँचे।

इस समय मूल जी विधिपूर्वक ब्रह्मचारी बन चुके थे।

उनके हाथ में दण्ड और कमण्डलु था। वस्त्र भी ब्रह्मचारी के से थे। उनका नाम शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी रक्खा जा चुका था। अपने प्रिय पुत्र की यह भिखारियों की-सी दशा देख धनवान पिता को बड़ा दुःख हुआ। उसने उनका कमण्डलु तोड़ डाला और कपड़े फाड़ डाले। जब रात हुई तब उन पर सिपाहियों का पहरा लगा दिया जिस से वे कहीं भाग न जाँय। ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य ने उनके इस काम में तनिक भी बाधा न दी। सिपाही समझे, यह अब नहीं भागेगा। परंतु उनको ग़ाफ़िल पाकर शुद्ध चैतन्य चुपके से वहाँ से चल दिए और फिर उनके हाथ न आए।

पिता और पुत्र का यह अन्तिम मिलाप था। दयानंद ने आज जनक-जननी और भाई-बंधु के प्रेम को, पिता की सारी संपत्ति को, और संसार के सारे भोग-विलास को, अमर जीवन प्राप्त करने के उद्देश्य से, त्याग दिया।

अब वे किसी पूर्णयोगी की तलाश में वनों और पर्वतों मे फिरने लगे। परंतु उनका अभीष्ट कहीं सिद्ध न हुआ। अंत में नर्मदा नदी के किनारे चाणोद कर्नाली नामक स्थान मे, ज्वालानंद पुरी और शिवानंद पुरी नाम के दो साधु उन्हें मिले। उन्होंने उनको योग की सारी क्रियाएँ सिखाकर निहाल कर दिया।

ब्रह्मचारी होने के कारण उन्हें अपना भोजन आप बनाना पड़ता था। इसमें बहुत सा समय नष्ट हो जाता था। योगाभ्यास और विद्याध्ययन के लिए उनके पास बहुत थोड़ा समय रह जाता था। इसलिए उन्होंने पूर्णानन्द नाम के एक

महात्मा से संन्यास ले लिया। अब उनका नाम दयानन्द हो गया।

दयानन्द सदा सत्य की खोज में रहते थे। वे प्रत्येक बात की परीक्षा स्वयं करते थे। एक बार उन्होंने एक ग्रन्थ में मनुष्य की हड्डियों और नस-नाड़ियों का कुछ वर्णन पढ़ा। इस वर्णन में उन्हे कुछ गड़बड़ मालूम हुई। एक दिन गङ्गा में एक लाश बहती जा रही थी। स्वामीजी झट नदी में छलाँग मार कर उसे बाहर निकाल लाये फिर उन्होंने उसे चीर कर उस की नस-नाड़ियाँ देखीं। परन्तु जो कुछ उसमें लिखा था उसके बिलकुल उल्टा पाया। स्वामी जी ने पुस्तक को झूठी समझ कर उसी समय फाड़ डाला और लाश के साथ ही उसे भी नदी में बहा दिया।

अब स्वामी जी किसी ऐसे महात्मा की तलाश में घूमने लगे जो उन्हें सच्चे शिव के दर्शन करा सके। उन्होंने सुना कि गढवाल की अलखनन्दा नदी के पार कोई बड़ा महात्मा रहता है। वे बीहड़ वनों और दुर्गम पर्वतों को पार करके अलखनन्दा पर पहुँचे। उस समय नदी बर्फ से भरी हुई थी। स्वामीजी का शरीर और पाँव नगे थे। बर्फ में चलने से उनके पाँव लहू-लुहान हो गये। शीत से उन का शरीर ठिठुर गया। वे अचेत हो कर बर्फ पर गिर पड़े। पहाड़ी लोगों ने उनको उठाकर उनके प्राण बचाए।

पहाड़ों और जंगलों में भटकने और अपार कष्ट सहने पर भी उन्हें कोई पूर्ण गुरु नहीं मिला। अंत मे उन्हे पता लगा कि मथुरा में विरजानन्द नाम के एक नेत्रहीन महात्मा रहते

हैं। वे व्याकरण के पारदर्शी पण्डित और वेद के पूर्ण ज्ञाता हैं। स्वामी दयानंद इन्हीं महत्मा के पास मथुरा में पहुँचे और उनसे पढ़ने लगे।

महात्मा विरजानंद स्वामी दयानंद को जो पाठ एक वार पढ़ा देते थे उसे दुवारा नहीं पढाते थे। सच तो यह है कि दयानन्द को दुवारा पूछने की आवश्यकता ही न होती थी। वे गुरु-मुख से सुनते ही झट उसे स्मरण कर लेते थे। इसलिए गुरु जी उन पर वहुत प्रसन्न थे।

एक दिन की वात है, पाठ वहुत लंवा और कठिन था। स्वामी जी को वह सारा याद न रहा। वे गुरु जी से दुवारा पूछने गये। गुरुजी ने वताने से इनकार कर दिया। वे वोले—"आजतक तुमने पहले कभी दुवारा पाठ नहीं पूछा। मालूम होता है, कल तुमने ध्यान से नहीं सुना। जाओ, मैं नहीं वताऊँगा।" स्वामी जी ने वहुतेरी अनुनय-विनय की, पर गुरु जी ने एक न मानी। वरन् वे कहने लगे—"यदि सारा पाठ याद न हो तो यमुना में भले ही डूव मरो, परन्तु मेरे पास मत आना।"

अन्त में हताश होकर स्वामी जी चले आए। वे यमुना-तट पर एक पेड़ के नीचे वैठकर उस भूले हुए पाठ को याद करने का यत्न करने लगे। परन्तु वह याद न आया। इस पर उन्होंने सचमुच ही नदी में डूव मरने का संकल्प कर लिया। वे इस विचार में इतने डूव से गये कि उन्हें वहाँ वैठे वैठे निद्रा-सी आ गई। इस निद्रा में उन्होंने क्या देखा कि

एक व्यक्ति खड़ा वही पाठ सुना रहा है। बस, फिर क्या था। उन्हें सारा पाठ स्मरण हो आया। वे हर्ष से उछल पड़े और झट गुरु जी के पास जा कर उन्होंने सारा पाठ सुना दिया। गुरुजी सुनकर बहुत प्रसन्न हुए।

महात्मा विरजानन्द के पास स्वामी दयानन्द कोई ढाई साल रहे। इस काल में उन्होंने उनसे बहुत कुछ सीखा। सब से बहुमूल्य बात जो उन्होंने सीखी वह वेदार्थ की सच्ची रीति थी। इससे वे वेद-वाणी का सच्चा अर्थ समझने मे समर्थ हो गये। इससे परमात्मा का सत्य स्वरूप उन पर प्रकट हो गया।

अब गुरु से शिष्य के जुदा होने का समय आया। दयानन्द के पास था ही क्या जो गुरु-दक्षिणा मे देते। मुट्ठी भर लौंग लेकर गुरुजी की सेवा मे उपस्थित हुए और उनके चरणों मे सीस नवा कर बोले—भगवन्, आप ने मुझे ज्ञान-चक्षु दिये हैं: वेद के प्रकाश से मेरे मन-मन्दिर को प्रकाशित किया है। मैं आप के उपकारों का बदला किसी प्रकार भी नहीं चुका सकता। मैं निर्धन हूँ। धन-दौलत पास नहीं जो श्रीचरणों में भेंट कर सकूँ। केवल ये लौंग ही हैं। स्वीकार कीजिए।

गुरुदेव का हृदय प्रिय शिष्य की जुदाई के विचार से भर आया। वे उनके सिर पर हाथ रख कर बोले—"पुत्र, मैं तुम्हारे लिये परमेश्वर से मंगलकामना करता हूँ। भगवान् तुम्हारी विद्या को सफल करे! परन्तु मैं इन लौंगो की दक्षिणा नहीं चाहता। मुझे तो एक दूसरी वस्तु की आवश्यकता है और वह वस्तु तुम्हारे पास है।"

स्वामी दयानन्द ने निवेदन किया—"गुरुदेव, मेरा तन-मन सब आपकी भेंट है। जो आज्ञा हो, जी-जान से पालन करूँगा। क्या आदेश है, कहिए।"

यह सुन नेत्रहीन गुरु के नेत्रों में जल आ गया। वे असोस देकर बोले—"प्यारे, इस समय, संसार में अविद्या-अंधकार फैल रहा है। लोग सच्चे वैदिक धर्म को भूलकर झूठे मत मतान्तरों मे फँसे हुए दुःख पा रहे है। ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों को छोड़ कर वे थोड़ी बुद्धि वाले लोगों की बनाई पुस्तकों को धर्मग्रन्थ मान रहे हैं। जाओ, इन भूले-भटके लोगों को सच्चे धर्म का मार्ग दिखाओ। अंधकार से निकाल कर इन्हें प्रकाश मे लाओ। दीन-दुखियों का दुःख दूर करो। मैं यही दक्षिणा चाहता हूँ।"

सब सुखों को छोड़कर अपना सारा जीवन संसार की सेवा मे लगा देना कोई साधारण काम नहीं। फिर भी दयानन्द ने गुरुजी की आज्ञा के एक एक शब्द को स्वीकार किया। वे बोले—"भगवन्, आपका यह शिष्य जी-जान से महाराज की आज्ञा का पालन करेगा।"

स्वामीजी महाराज गुरुदेव के चरणों मे सीस नवा कर मथुरा से आगरा चले आए और वैदिक धर्म का प्रचार करने लगे। उनका उपदेश था कि पत्थर की पूजा से परमेश्वर नहीं मिलता। निराकार परमेश्वर का जन्म अर्थात् अवतार नहीं होता। गङ्गा-स्नान से शरीर का मैल तो धुल सकता है पर पाप दूर नहीं होते। अपने अच्छे कर्मों से ही लोक और परलोक में

सुख मिलता है। जन्म से सभी लोग बराबर हैं; अपने गुण, कर्म, स्वभाव से ही वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनते हैं। जो वेद-विद्या का जानने वाला, सदाचारी, त्यागी और परोपकारी है, उसका जन्म चाहे भङ्गी के घर में हुआ हो, वही सच्चा ब्राह्मण है। जो मनुष्य मूर्ख, दुराचारी और अपने ही स्वार्थ में लीन है। वह ब्राह्मण नहीं। मनुष्य-समाज के लिए शूद्र भी वैसा ही आवश्यक है जैसा कि ब्राह्मण। इसलिए ऊँच-नीच और छूत-छात का भाव ठीक नहीं। सब आर्यों को आपस में जन्म की जात-पाँत का विचार छोड़ कर गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार रोटी-बेटी-व्यवहार करना चाहिए। जो मुसलमान और ईसाई वैदिक धर्म में आना चाहे उसे शुद्ध करके मिला लेना चाहिए।

स्वामीजी के सच्चे उपदेशों को सुनकर कई स्वार्थी और मन्दमति लोग उनके शत्रु बन गये। वे उनकी हत्या कर डालने के उपाय सोचने लगे।

अनूप शहर की बात है, एक पाजी ने पान में विष रखकर स्वामीजी को दे दिया। उसका रस लेते ही स्वामीजी ताड़ गये कि इसमें विष मिला है। उन्होंने उस दुष्ट से कहा कुछ नहीं, परन्तु झट गङ्गा पर जाकर न्योली और वस्ती कर्म द्वारा सारा विष शरीर से बाहर निकाल दिया।

वहाँ के तहसीलदार, सैयद मुहम्मद, स्वामीजी के बड़े भक्त थे। जब उन्होंने विष देने की बात सुनी तुरन्त उस पापी को पकड़वा कर हवालात में दे दिया। परन्तु स्वामीजी ने उनसे

कहकर उसे छुड़ा दिया। वे बोले—"मैं मनुष्यों को छुड़ाने आया हूँ, कैद कराने नहीं। यदि दुष्ट लोग दुष्टता को नहीं छोड़ते, तो हम अपनी शिष्टता को क्यों छोड़ें ?"

एक समय स्वामी दयानन्द धर्म-प्रचार करते हुए कर्णवास जा निकले। वहाँ कर्णसिंह नाम का एक ठाकुर बड़ा कट्टर मूर्त्ति-पूजक था। स्वामीजी को मूर्त्ति-पूजा का खंडन करते सुन उसके क्रोध की कोई सीमा न रही। वह तलवार पर हाथ रखकर बोला—"मुँह सँभाल कर बोलो।" कर्णसिंह के साथ दस बारह मनुष्य शस्त्र लिए हुए थे। वे भी लड़ने के लिए तैयार हो गये। यह देख स्वामीजी तनिक भी न घबराए। वे हँसते हुए बोले—"यदि शास्त्रार्थ करना है तो अपने गुरु अङ्गदाचार्य को वृन्दावन से बुला लीजिए और यदि तलवार से लड़ना चाहते हो तो सन्यासी से क्यों टकरते हो, जयपुर या जोधपुर से जा भिड़ो।"

स्वामीजी की यह बात सुन वह और भी जल-भुन गया। वह स्वामीजी पर तलवार की चोट करने दौड़ा। वह तलवार चलाना ही चाहता था कि स्वामीजी ने झपट कर तलवार छीन ली और उसके दो टुकड़े करके परे फैंक दिये। कर्णसिंह का मुख पीला पड़ गया। तब स्वामी जी ने कहा—"मैं संन्यासी हूँ। तुम्हारे किसी भी व्यवहार से चिढ़कर तुम्हारा बुरा नहीं करूँगा, जाओ, भगवान् तुम्हे सुमति दे।"

कर्णसिंह उस समय तो खिसियाना सा होकर घर लौट गया। परन्तु कुछ दिन बाद उसने अपने नौकरों को तलवारें

देकर स्वामीजी की हत्या कर डालने के लिए भेजा। उसने उन को धमकी भी दी कि यदि तुमने दयानन्द की हत्या न की तो तुम्हें घोर दण्ड दिया जायगा। वे आधी रात के समय स्वामी जी को मारने चले। परन्तु

जा को राखे साइयाँ, मार सकहि नहिं कोई।
बाल न बाँका कर सकहि जो जग वैरी होई॥

ज्योंही वे स्वामीजी की कुटी के निकट पहुँचे महाराज ने उनके पाँवों की आहट सुन ली। वे सिंह के समान निडर होकर बाहर निकले और उन्होंने इतने जोर से हुंकार नाद किया कि वे भाड़े के टट्टू मारे डर के अपने पैर सिर पर रख कर भागे उन्होंने कर्णसिंह के पास पहुँच कर ही दम लिया।

स्वामी दयानन्द केवल अद्वितीय विद्वान ही न थे, ब्रह्मचर्य के प्रताप से उनका शरीर भी बहुत बलवान था। जालन्धर में एक दिन सरदार विक्रमसिंह ने विनती की कि सुनते हैं कि ब्रह्मचर्य से मनुष्य बड़ा बलवान् बन जाता है। क्या यह सच है?

स्वामीजी ने उत्तर दिया—हाँ, बिलकुल सच है।

तब सरदार साहब बोले—महाराज, आप भी तो ब्रह्मचारी हैं; परन्तु आप मे तो हमे कोई विशेष बल मालूम नहीं पड़ता। स्वामीजी ने उस समय इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। सरदार साहब बड़ी देर तक सत्सङ्ग में बैठे रहे। चलते समय जब वे प्रणाम करके गाड़ी में सवार हुए तो महाराज ने उनकी गाड़ी को पीछे से पकड लिया। विक्रमसिंहजी ने घोड़ों को बहुतेरे कोड़े लगाए, परन्तु गाड़ी अपनी जगह से न हिली।

सरदार साहब ने जब पीछे की ओर मुड़कर देखा तो महाराज ने गाड़ी छोड़ दी और कहा कि ब्रह्मचर्य के बल का प्रमाण आपको मिल गया ? सरदार महाशय स्वामीजी के बल को देख दंग रह गये ।

जिसे परमेश्वर का भरोसा है, जो सच्चा है, जो सबकी भलाई चाहता है, जो ब्रह्मचारी है, जिसने मृत्यु को जीत लिया है उसे किसका डर है ? वह संसार में निर्भय होकर विचरता है । दयानन्द पूर्ण ब्रह्मचारी, सच्चे संन्यासी और जगत का कल्याण चाहने वाले महात्मा थे । जगदीश्वर पर उनका अटल विश्वास था । इसलिए वे किसी से डरते न थे ।

वे बरेली में व्याख्यान दे रहे थे । वहाँ के कमिश्नर भी उनका व्याख्यान सुनने आए थे । जब तक स्वामीजी पुराणों की गप्पों का खंडन करते रहे वे हँसते रहे । परन्तु ज्योंही स्वामीजी ने ईसाई मत की आलोचना आरम्भ की, कमिश्नर महाशय का मुख-मण्डल क्रोध से तमत मा उठा । दूसरे दिन उन्होंने स्वामी जी के आतिथ्य-दाता श्री लक्ष्मीनारायण के द्वारा स्वामीजी से कहला भेजा कि खण्डन में अधिक कठोरता से काम न लिया करें; हम ईसाई तो सभ्य हैं; वाद-विवाद में नहीं घबराते यदि हिन्दू या मुसलमान भड़क उठे तो उनके व्याख्यान बंद हो जायँगे ।

श्री लक्ष्मीनारायण ने डरते डरते स्वामीजी से कहा—"महाराज, यदि नरमी से काम लिया जाय तो बहुत अच्छा हो । इससे जनता पर प्रभाव भी अच्छा पड़ेगा और अँगरेज़ भी प्रसन्न रहेंगे ।"

यह सुन स्वामी जी हँस पड़े और कहने लगे—"बस इतनी सी बात पर आप गिड़गिड़ा रहे थे !"

अगले दिन आत्मा के स्वरूप पर स्वामी जी का व्याख्यान था। सुनने वालों से पण्डाल खचाखच भरा था। बहुत से योरपियन भी उपस्थित थे। स्वामी जी ने आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए "सत्य" पर कहना आरम्भ कर दिया। उन्होंने गम्भीर भाव से गरज कर कहा—"लोग कहते है कि सत्य का प्रकाश मत करो, क्योंकि कलेक्टर कुपित हो जायगा, कमिश्नर प्रसन्न नहीं रहेगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अजी, चाहे संसार का चक्रवर्ती राजा भी क्यों न रुष्ट हो जाय, हम तो सत्य ही कहेंगे।"

इसके उपरान्त उपनिषदों के कुछ वचन बोल कर कहा—"आत्मा अमर है। इसको न कोई शस्त्र काट सकता है और न आग जला सकती है। इसका नाश कभी नहीं होता। शरीर अवश्य नश्वर है। जिसका जी चाहे उसे नष्ट कर दे। परन्तु हम शरीर को बचाने के लिए सत्य धर्म को नहीं छोड़ सकते। सत्य का त्याग नहीं कर सकते।"

तब वे अपने चमकते हुए नेत्रों से चारों ओर दृष्टि डालते हुए बोले—"वह वीर पुरुष मुझे दिखलाइए, जो मेरी आत्मा को टुकड़े टुकड़े कर डालने का अभिमान करता हो। जब तक ऐसा मनुष्य दिखाई नहीं पड़ता, दयानन्द के लिए सत्य में संदेह करना स्वप्न में भी असभव है।"

महाराज की इस गरज से सारा पण्डाल गूँज उठा। सारी सभा पर सन्नाटा छा गया। स्वामी जी ने व्याख्यान समाप्त भी

कर दिया, परन्तु लोगों के कानों में उसकी ध्वनि बराबर गूँजती रही।

काशी हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थ है। वह संस्कृत-विद्या का केन्द्र है। वहाँ बड़े-बड़े पौराणिक पण्डित रहते हैं। उनकी व्यवस्था सारे हिन्दू-संसार में विशेष सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है। जब दूसरे नगरों के पण्डित शास्त्रार्थ में स्वामी जी के सामने न ठहर सके तो स्वामी जी ने काशी में जाकर वहाँ के पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ करने का निश्चय किया।

जिस काशी को महादेव के त्रिशूल पर ठहरी हुई कहा जाता है, जिसके पण्डितों की विद्वत्ता पर सिक्का सब जगह माना जाता है, जिसमें "जितने कङ्कर उतने शङ्कर" हैं, उसी काशीपुरी में एक दिन एक लंगोट-बंद दिगम्बर संन्यासी हाथ में वैदिक धर्म का झंडा लिए प्रविष्ट हुआ। जिस प्रकार भेड़ों के रेवड़ में सिंह की गरज से घबराहट उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार इस नर-केसरी के वेद-नाद को सुनकर काशी की पण्डित-मंडली में खलबली मच गई। काशी में सब कहीं प्रसिद्ध हो गया कि एक ऐसा संन्यासी आया है जो गङ्गा के प्रवाह की तरह संस्कृत बोलता है और मूर्त्ति-पूजा एवं अवतार-वाद का खंडन करता है। सैकड़ों सहस्रों लोग भगवान दयानन्द के पवित्र उपदेशों को सुनने के लिए आने लगे।

स्वामी जी के प्रभाव को रोकने के लिए काशी के पण्डितों ने शास्त्रार्थ के लिए उनका आवाहन किया। स्वामी जी तो यह चाहते ही थे। काशी-नरेश शास्त्रार्थ की सभा के प्रधान चुने

गये। नियत दिन और नियत काल पर शास्त्रार्थ के स्थान पर लोग एक बहुत बडी संख्या मे इकट्ठे हो गये। एक ओर काशी की सारी पंडित-मंडली बड़े ठाठ-बाट के साथ डटी बैठी थी। उनके साथ उनके सैकड़ों सहायक थे और दूसरी ओर उनके सामने केवल एक जगदीश्वर का भरोसा रखने वाला बाल-ब्रह्मचारी सचाई की ढाल हाथ में लिए अकेला बैठा था।

मूर्त्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। दोनों ओर से प्रश्नोत्तर हुए। परन्तु वेद से मूर्त्ति-पूजा सिद्ध न हुई। पंडितों ने एक चालाकी की। साँझ हो चुकी थी। एक पंडित ने दो फटे पुराने पन्ने स्वामी जी के सामने रखकर कहा कि देखो ये वेद के पन्ने हैं। इनमे मूर्त्ति-पूजा की आज्ञा है।

स्वामी जी ने कहा कि पढ़ कर सुनाइए। परन्तु वह कहने लगा कि नहीं, आप ही पढिए। स्वामी जी उन्हे देख ही रहे थे कि पंडित-मंडली ने ताली पीट दी—बोल सनातन धर्म की जय! और सारी सभा उठ खड़ी हुई। समझने वाले समझ गये कि काशी के पंडितों मे कितना पांडित्य है। उसके बाद स्वामी जी ने कई बार काशी के पंडितों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। परन्तु उन्हें सामने आने का साहस न हुआ।

स्वामी जी धर्म-प्रचार करते हुए संवत् १९४० विक्रमी में जोधपुर गये। महाराजा जोधपुर ने उनका बहुत अच्छा आतिथ्य-सत्कार किया। स्वामी जी कई दिन वहाँ ठहरे। उनके उपदेशों को सुनने के लिए सर्वसाधारण के अतिरिक्त जोधपुर के महाराज श्रीयशवन्तसिंह भी आया करते थे। महाराजा की स्वामी

जी पर वड़ी श्रद्धा-भक्ति थी। एक दिन स्वामीजी को पता लगा कि महाराजा नन्हीजान नाम की एक वेश्या से प्रेम करते हैं। उन्होंने महाराजा को इस दुष्कर्म से वचने की प्रेरणा की।

जव नन्हीजान को इस वात का पता लगा तो वह स्वामी जी से वहुत चिढ़ी। उस दुष्टा ने स्वामीजी के रसोइये जगन्नाथ को साथ मिलाकर उन्हें विप दिला दिया। इससे वे वहुत अधिक रुग्ण हो गये। उनके लोहे जैसे मज़वूत शरीर को विप के कीड़े ने घुन की तरह खोखला कर दिया।

परम योगी दयानन्द से इस भेद का छिपा रहना कठिन था। उन्होंने अपने विप देने वाले जगन्नाथ को जाँच कर पकड़ लिया। जगन्नाथ ने अपने इस नारकी पाप को स्वीकार भी कर लिया। परन्तु मनुष्य को जो दुःख-सुख मिलता है वह उसके अपने ही कर्मों का फल होता है, दूसरा व्यक्ति तो वीच में केवल एक निमित्त वन जाता है, इस वात पर दृढ विश्वास रखने के कारण स्वामीजी ने उसे क्षमा कर दिया। उससे केवल इतना ही कहा "मेरे इस समय मरने से मेरा काम अधूरा रह गया। तुम नहीं जानते कि इससे लोक-हित की कितनी भारी हानि हुई है। अच्छा, भगवान् की ऐसी ही इच्छा थी। इस में तुम्हारा भी क्या दोप है।"

इतना ही नहीं स्वामीजी ने उसे कुछ रुपये भी दिये और कहा कि यहाँ से फौरन भाग जाओ। कहीं, ऐसा न हो कि राजा को पता लग जाय। नहीं तो तुम मारे जाओगे। वह वहाँ से

भाग कर नैपाल चला गया। अब स्वामीजी को चिकित्सा के लिए जोधपुर से अजमेर ले आए।

स्वामीजी का रोग दिन पर दिन बढ़ता जाता था। उनके सारे शरीर पर विष के फफोले उभर आए थे। साँस रुककर आती थी। इससे उन्हें भारी कष्ट हो रहा था। परन्तु वे हा तक न करते थे। उनका मुख-मण्डल बराबर कमल की तरह खिला रहता था।

संवत् १९४० की दीवाली का दिन था और साझ के साढ़े पाँच बजे का समय। स्वामीजी ने कमरे के सब द्वार और खिड़कियाँ खुलवा दीं। फिर गम्भीर स्वर से वेद-मन्त्रों का गान करने लगे। इसके बाद उन्होंने संस्कृत और हिन्दी में ईश्वर की स्तुति की। फिर भक्तों की परमगति भगवती गायत्री का पाठ करते-करते एक दम चुप हो गये। कुछ देर बाद जब समाधि भङ्ग हुई तो दोनों नेत्र खोल कर दिव्य ज्योति की किरणें छोड़ते हुए कहा— "हे दयामय! हे सर्व शक्तिमान! तेरी यही इच्छा है। परमात्मदेव! तेरी इच्छा पूर्ण हो! अहा, मेरे प्रभु, तूने अच्छी लीला की!"

इन शब्दों के साथ ही स्वामीजी ने परमधाम को जाने के लिए श्वास को कुछ देर तक भीतर रोक कर "ओ३म्" कहते हुए एक बारगी बाहर निकाल दिया।

महाराज की देह के निर्जीव होते ही उपस्थित सज्जनों के नेत्रों से आँसुओं की नदियाँ बहने लगीं। रोते-रोते उनकी घिग्घियाँ बँध गईं।

दुखिया भारत-माता का सच्चा सुपूत, मनुष्य-मात्र का हित-चिन्तक, बाल-ब्रह्मचारी, वेदों का अद्वितीय पण्डित स्वामी दयानन्द सायंकाल छः बजे इस असार संसार को छोड़ कर अमरधाम को प्रस्थान कर गया। उस समय सूर्य भी डूब रहा था। रात का अँधेरा क्षण-क्षण में बढ़ता जाता था और दूसरी ओर उस वेदों के सूर्य के अस्त हो जाने से आध्यात्मिक जगत मे अँधेरा छा गया था। भारत-जननी दीवाली के हजारों लाखों दीपक जला कर उस खोये हुए कलेजे के टुकड़े को ढूँढ़ रही थी।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

(सन् १८६१—१९४१)

रवीन्द्रनाथ का जन्म यद्यपि वंग देश में हुआ था और वे बङ्गाली थे, फिर भी वे केवल बंगाल और भारत के ही नहीं, वरन् विश्व की विभूति थे। जिस प्रकार व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास, और कबीर किसी प्रान्त या देश-विशेष के नहीं हैं, समस्त विश्व का उन पर अधिकार है, उसी प्रकार रवीन्द्रनाथ समस्त मानव-जगत् की सम्पत्ति है। यद्यपि उनका नश्वर शरीर पंचभूतों मे मिल चुका है, परन्तु उनका नाम सदा अमर रहेगा।

रवीन्द्रनाथ का जन्म ७ मई १८६१ को कलकत्ता के जोडा साँको मुहल्ले में हुआ था। उनके पिता का नाम महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर था और माता का नाम शारदा देवी। वे अपने पिता के सब से छोटे पुत्र थे। रवीन्द्रनाथ बड़े भाग्यशाली थे। उनका जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ था, जिस पर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की बराबर कृपा थी। बङ्गाल में ठाकुर-परिवार की जैसी ख्याति है, वैसी सम्भवतः और किसी परिवार की नहीं। इस परिवार मे बड़े-बड़े विचारक, धर्मोपदेशक, दार्शनिक, तत्त्वज्ञानी, विद्वान, कलाकार और संगीतज्ञ हो गये हैं। साहित्य और कला के साथ साथ ठाकुर-परिवार मे संगीत का

भी बड़ा आदर है। यहाँ यह लिखना अप्रासङ्गिक न होगा कि साहित्य और कला की उपासना में ठाकुर-परिवार की महिलाएँ भी पुरुषों से किसी प्रकार कम नहीं हैं। इसी सुसंस्कृत एवं कलामय वातावरण में रवीन्द्रनाथ का जन्म और उनकी प्रतिभा का विकास हुआ।

जब रवीन्द्रनाथ छोटी अवस्था के थे, तभी उनकी माता का देहान्त हो गया। इसलिए उनका लालन-पालन विशेष रूप से घर के दास-दासियों द्वारा हुआ। उनको लिखाने-पढ़ाने के लिए गृह-शिक्षक नियुक्त किए गये। पर उन्होंने उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। स्कूल में पढ़ने के लिए भेजे गये, पर वहाँ से भी किसी तरह भाग निकले। बात यह थी कि वह जन्म से ही स्वतंत्र प्रकृति के थे। "पृथ्वी के अधिकांश कवियों की तरह आप को सरस्वती माता के पद्मवन के प्रति शैशवावस्था से ही लोभ था; परन्तु उनके कमलसरोवर के तीर पर गुरु महाशय द्वारा अधिराजित जो वेत्रवन कण्टकित होकर विराजता है, उससे आप बहुत डरते थे।"

विद्यालय में आपने कुछ भी नहीं सीखा। पर बाल्यावस्था से ही आपको बँगला पढ़ने का बड़ा शौक था। यद्यपि आप पाठशाला के पाठों पर समुचित मनोयोग नहीं देते थे, फिर भी आपने वङ्ग-साहित्य के प्रायः सभी ग्रन्थों को पढ़ डाला। स्कूल और कालेज की शिक्षा उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं थी। वे प्रकृति के पुजारी थे। वे संसार में लीलामय रहस्यमय, जगन्नियन्ता के दिव्य संदेश सुनाने आए थे। उन्हें वास्तविक शिक्षा तो

मानव-जीवन के महाविद्यालय में मिली। उन्होंने विश्व का ज्ञान अपने जीवन की समस्त परिस्थितियों और वातावरण के अध्ययन से प्राप्त किया।

रवीन्द्रनाथ को बाल्यकाल मे ही पिता के साथ हिमालय में घूमने का अवसर मिला था। इस भ्रमण-काल मे आपने पिता जी से कुछ अंगरेजी, कुछ सस्कृत और कुछ ज्योतिष सीखा था। अँगरेजी के कई अच्छे-अच्छे विद्वान रवि बाबू के घर मे प्राय आया करते थे। वहाँ नाना प्रकार की साहित्यालोचना हुआ करती थी। उनके मुख से अंगरेजी की आवृत्ति और व्याख्या सुनते सुनते रवीन्द्रनाथ का कल्पना-प्रवण-चित्त बहुत सा खाद्य सग्रह किया करता था।

जैसी साहित्य-चर्चा वैसी ही सङ्गीत-चर्चा भी होती थी। इसलिए छुटपन से ही आपका मन क्रमागत गान सुनते-सुनते सङ्गीत की उस अनिर्वचनीयता के राज्य मे घूमा करता था जो उनकी कविताओ मे लक्षित होती है। जब वे ग्यारह वर्ष नौ मास के बालक थे, तभी उन्होंने अपने गृह मे होने वाले माघोत्सव में घर के बालक-बालिकाओ के साथ अपने बड़े भाई ज्योतिरीन्द्र नाथ का "शङ्कर शिव संकटहारी" नामक गान गाकर ख्याति अर्जित की थी।

निरन्तर साहित्य-चर्चा और सगीत-चर्चा के बीच प्रतिपालित होने के कारण रवि बाबू की कवित्व-शक्ति बहुत छोटी आयु मे ही दिखलाई दी। विद्यापति आदि प्रसिद्ध वैष्णव कवियों की कविताओं को पढकर आपने कितनी ही कविताएँ रच डाली

थीं। उस समय आपने अपना नाम 'भानुसिंह' रखा था। आप अपने मँझले भाई सत्येन्द्रनाथ के साथ कुछ समय अहमदाबाद में रहे थे। इन दिनों आप अंगरेजी साहित्य के बड़े-बड़े ग्रन्थों को पढ़ते और उनके भाव अवलम्बन कर बँगला में लेख लिखा करते थे।

महर्षि देवेन्द्रनाथ ने बोलपुर में बीस बीघा भूमि का टुकड़ा खरीद कर वहाँ एकतल्ला मकान बनवाया था। वे कभी कभी नगर के झंझटों से ऊब कर शान्ति पाने के लिए वहाँ जाया करते थे। वर्तमान "शान्ति-निकेतन" उसी स्थान पर स्थापित हुआ है।

सन् १८७३ में रवि बाबू अपने पिता के साथ साहब गंज, दानापुर, इलाहाबाद, कानपुर आदि स्थानों का भ्रमण कर अमृतसर गये। वहाँ लग-भग एक मास रहे, वहाँ से डलहौजी चले गये। पंजाब से वे कलकत्ता लौट आए और बंगाल एकाडमी में पढ़ने लगे। परन्तु वहाँ भी उनका मन नहीं लगा।

सन् १८७४ के नवम्बर या दिसंबर महीने की "तत्त्व बोधिनी" पत्रिका में "अभिलाषा" नामक उनकी एक लंबी कविता प्रकाशित हुई। यही उनकी सर्वप्रथम मुद्रित कविता थी। इस समय उनकी अवस्था १३ वर्ष ७ मास की थी। इसके उपरान्त उनकी कविताएँ "भारती" नामक पत्रिका में प्रकाशित हुईं। इसके बाद उसी पत्रिका में "करुणा" नामक उपन्यास धारावाहिक रूप मे छपता रहा। उपर्युक्त रचनाएँ उनकी पन्द्रह वर्ष आयु की कृति हैं। कहा जाता है कि इसी समय उनका साहित्यिक जीवन आरम्भ हो गया था।

सन् १८७८ मे, सत्रह वर्ष की आयु मे रवि बाबू विद्याध्ययन के लिए इंग्लैंड गये। वहाँ जाकर पहले वे ब्राइटन के पब्लिक स्कूल में और बाद को लन्दन यूनिवर्सिटी कालेज मे भरती हुए। वहाँ उन्हें अच्छे अच्छे लोगों के संपर्क मे आने का अवसर मिला। वहीं उन्होंने "भग्नतरी" नामक एक गाथा की रचना की। इसी प्रवास-काल मे उन्होंने "भग्न हृदय" नामक एक और काव्य आरम्भ किया था। पर वे सन् १८८० मे भारत लौट आए। भारत आकर उन्होंने इस काव्य को पूरा किया। योरप से लौट कर अपने "वाल्मीकि प्रतिभा" और "काल मृगया" नामक गीति-नाट्यों की रचना की। ये दोनों नाटक उनके घर मे अभिनीत हुए। इन दोनों की भूमिका में स्वयं रवीन्द्रनाथ रङ्ग-मञ्च पर उतरे थे

सन् १८८१ में उनके पिता ने उन्हें बैरिस्टरी पास करने के लिए फिर विलायत भेजा। परन्तु वे रास्ते मे मद्रास से लौट आए और चन्दन नगर मे अपने भाई ज्योतिरीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ रहने लगे। यहीं उन्होंने "संन्ध्या-संगीत" की कवितागें लिखना आरम्भ किया। रवीन्द्रनाथ का विशेपत्व पहले पहल "संन्ध्या-संगीत" मे ही देखा गया था। वे स्वय कहते हैं कि "संन्ध्या-सङ्गीत" मे मैंने प्रचलित छन्दों का त्याग और अपनी इच्छा के अनुसार नये छन्दों का उपयोग किया है। इसी संगीत मे उन्होंने अपने निज का स्वर पहले पहल अलापा था।

चन्दन नगर से रवीन्द्रनाथ कलकत्ता आए और चौरङ्गी मे रहने लगे। वहाँ आपके भाव मे अकस्मात् परिवर्तन हो गया।

पिताजी ने आप से घर की देख-रेख करने के लिए अनुरोध किया। इसी समय से आप सियालदह में रहने लगे।

रवि बाबू की अधिकांश कहानियाँ प्रकृति के एक-एक विशेष अनुभव को प्रकाशित करने की इच्छा से लिखी गई हैं। इनमे आप ने बगाल के ग्राम्य जीवन की सच्ची घटनाओं की प्रकृत छवि खींचने का प्रयास किया है, उस समय की प्रकाशित "सोनार तरी" और "परश पाथर" प्रभृति कविताओं मे आपने वैराग्य का घोर प्रतिवाद किया है। "मिट्टी से उखाड़े हुए गाछ जिस तरह सूख जाते हैं, उसी तरह संसार के बंधनों को तोड़ डालने से मनुष्य भी शुष्क होकर मरते हैं। इसी शुष्कता की साधना को हम मुक्ति की साधना समझते हैं। पर वास्तविक सत्ता इस में कुछ नहीं है।"

सन् १९०१ में "नैवेद्य" प्रकाशित हुआ था। इसमें प्राचीन तपोवन के ऋषियों की साधना का आदर्श सत्य भाव से लाभ करने के लिए कवि की व्याकुल इच्छा प्रकट हुई थी। अब यह इच्छा और भी प्रबल हो उठी। अतएव आपने सन् १९०१ में अपने बोलपुर के "शान्ति-निकेतन" में एक ब्रह्मचर्य आश्रम स्थापित किया। इसका नाम अब "विश्व भारती" है। इस मे प्राचीन भारत के आदर्श पर शिक्षा दी जाती है।

रवीन्द्रनाथ ने स्वादेशिकता के परिपूर्ण भाव के द्वारा हिन्दू-समाज को जोर से पकड़ना चाहा था। उनका विचार था कि योरप की जातियों के "नेशन" (राष्ट्र) ने जिस प्रकार सारे स्वातंत्र्य और विच्छेद में एकता संपादन कर राष्ट्रीय संस्थाओं

को दृढ़ बना रक्खा है, हमारा बहुत दिन का समाज भी हमारे लिए वैसी ही वस्तु है; उसे प्राणपण से खड़ा रखना ही हमारी प्रधान आवश्यकता है। वहीं हमारी सभी जातियाँ आकर मिलेंगी। उसी स्वदेशी समाज को यदि हमने सजग न किया तो विदेश के आक्रमण की धारा में हम बह जायँगे। पृथ्वी के इतिहास से हमारा नाम लुप्त हो जायगा। "बङ्ग-दर्शन" में प्रकाशित "समाज भेद," "ब्राह्मण," "हिन्दुत्व" प्रभृति प्रबंधों को पढ़ने से उनके इसी भाव का परिचय मिलता है।

उनका मत है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि हिन्दुओं के वर्णों में ऊँच-नीच का कोई भाव नहीं था। वृत्तिभेद के सिवा उनमें और कोई भेद नहीं था। कालक्रम से विभिन्न वर्णों ने अपनी अपनी वृत्ति को छोड़ दिया है। वे अब एक दूसरे को ऊँचा-नीचा मान कर परस्पर रोटी-बेटी-व्यवहार नहीं करते। यह बात समाज के लिए घातक है। इस सामाजिक विषमता की दलदल पर स्वराज्य का विशाल भवन कभी निर्मित नहीं हो सकता।

"बङ्ग-दर्शन" का सम्पादन-कार्य हाथ में लेने के बाद दूसरे वर्ष अर्थात् सन् १९०२ में आपकी पत्नी का देहान्त होगया। इसके बाद एक वर्ष के भीतर ही आपकी मँझली कन्या भी चल बसी। कन्या को वायु-परिवर्तन कराने के लिए आप अलमोड़ा पहाड़ पर गये थे। वहीं आपने "शिशु" नाम का एक नवीन काव्य रचा। यह वात्सल्य-रस से पूर्ण है।

सन् १९०५ में बङ्ग-भङ्ग हुआ। उस समय बंगालियों ने जो

तुमुल आन्दोलन किया था, रवि बाबू ने उसमें प्रमुख भाग लिया। संगीत के द्वारा और वक्तृता के द्वारा उन्होंने बंगालियों को देश के आदर्श और सत्य के प्रति सजग किया था। वह आप के स्वादेशिक जीवन का मध्याह्न काल था।

ठीक इस समय रवि बाबू हठात इस आन्दोलन से अलग हो गये। इससे उस समय आपकी बड़ी निन्दा हुई। पर उन्होंने उस निंदा की कुछ परवा नहीं की। अब विश्वबोध की मूलरागिणी फिर से ध्वनित होने लगी। आप के उस समय के लेखों और कविताओं से यह स्पष्ट है, भारतवर्ष को आपने स्वादेशिकता की सङ्कीर्ण दृष्टि से देखना छोड़ दिया। इस समय से आप के विचार में भारतवर्ष हिन्दू-मुसलमान का भारतवर्ष नहीं रहा, वह सारी मानव-जाति का भारतवर्ष हो गया। अपने "गोरा" नामक उपन्यास में आपने यही दिखलाया है। "समाज" के "पूर्व और पश्चिम" शीर्षक प्रबंध में भी इसी बात का उल्लेख है।

रवि बाबू के आध्यात्मिक जीवन का यह मध्याह्न-काल था। इन दिनों आत्मा और ब्रह्म की उपलब्धि की चेष्टा ही उनका प्रधान कार्य था। उनकी कविताओं, लेखों और वक्तृताओं का मुख्य लक्षण आध्यात्मिकता थी। "गीताञ्जलि," "अचलायतन" प्रभृति लेख उनकी इस अन्तिम दशा के हैं।

रवीन्द्रनाथ की "गीताञ्जलि" सन् १९०९ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक ने उनकी ख्याति सारे संसार में फैला दी। अब वे विश्वकवि के आसन पर बैठ गये। गीताञ्जलि के प्रकाशित

होने के बाद रवीन्द्रनाथ तीसरी बार इग्लंड गये। वहाँ वे अपने साथ अपनी कविताओं का अँगरेजी अनुवाद भी ले गये। अनुवाद पढकर आयरलैंड के प्रसिद्ध कवि श्री० यीट्स बड़े प्रभावित हुए और भी कितने ही कवि उनकी कविताओं का रसास्वादन कर बहुत मुग्ध हुए। लन्दन की "इण्डिया सोसाइटी" ने "गीताञ्जलि" का अँगरेजी संस्करण प्रकाशित कर उसकी एक एक प्रति अपने मेम्बरों को भेट की। इंग्लैंड मे 'गीताञ्जलि' का अपूर्व स्वागत हुआ।

अब रवीन्द्रनाथ की ख्याति योरप और अमेरिका तक फैल गई। चारों ओर उनकी कृतियों की धूम सी मच गई। भारत लौटने पर यहाँ भी उनके प्रशंसकों ने वैसा ही उत्साह दिखाया। सन् १९१३ मे उनको विश्व-विख्यात नोबल-पुरस्कार प्रदान किया गया। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने अपनी प्रतिभा से भारत के गौरव और मान को बढ़ाया।

नोबल-पुरस्कार पा लेने पर कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने भी रवि बाबू को डाक्टर की उपाधि प्रदान कर अपने को गौरवान्वित किया। सन् १९१४ मे सरकार ने उन्हे "सर" की उपाधि से विभूषित किया। गीताञ्जलि योरप और अमेरिका मे इतनी लोकप्रिय हुई कि जब तक उसका बगला का प्रथम संस्करण भी समाप्त नहीं हो पाया था कि अँगरेजी में उसके कितने ही संस्करण समाप्त हो गये।

इँग्लैंड से लौटने पर रवींद्र नाथ "शान्ति-निकेतन" पहुँचे। उनको बधाई देने के लिए कलकत्ता से एक स्पेशल ट्रेन द्वारा

२०० योरोपियन और भारतीय शान्ति-निकेतन गये। उन व्यक्तियों में जस्टिस आशुतोष चौधुरी, आचार्य जगदीश चंद्र वसु, रेवरेण्ड मिलवर्न, मौलवी अब्दुल कासिम, और सतीश चन्द्र विद्या भूषण आदि प्रमुख थे। किन्तु उनकी उस सम्वर्धना के उत्तर में, उन्हें रवीन्द्रनाथ ने जो उत्तर दिया, उससे वे बड़े मर्माहत हुए। रवीन्द्रनाथ ने कहा कि मेरे साहित्यिक जीवन में देश-वासियों द्वारा सदा मेरा विरोध किया गया। आज जब पश्चिम ने मेरी शक्ति को स्वीकार किया है, तो देश-वासी हर्ष से फूले नहीं समाते। इसलिए आप लोग जो सम्मान का प्याला ले आए हैं, उसे मैं केवल हाथ से ही छूता हूँ, हृदय से पी नहीं सकता।

सन १९१६ में रवीन्द्रनाथ ने जापान की यात्रा की। यात्रा के मार्ग में उन्होंने "कणिका" का अंगरेजी में अनुवाद किया। जापान में उन्होंने "राष्ट्रीयता" पर व्याख्यान दिये। जापान से वे संयुक्त राष्ट्र, अमेरिका चले गये। वहाँ उन्होंने "राष्ट्रीयता और व्यक्तित्व" पर भाषण दिये। सन् १९१७ में वे वहाँ से लौट आए। सन १९१९ में अमृतसर में जल्याँवाला का लोमहर्षक काण्ड हुआ। कवि रवीन्द्र नाथ का हृदय इस रोमाञ्चकारी काण्ड से विचलित हो उठा। उससे क्षुब्ध हो कवि-वाणी प्रबल वेग से फूट निकली। उन्होंने लार्ड चेम्सफोर्ड को पत्र लिख कर, प्रतिवाद स्वरूप, अपनी 'सर' की उपाधि त्याग दी। तब से वह बराबर पंजाब के हत्याकाण्ड का विरोध करते रहे।

वे विदेशी राज्य के विरुद्ध थे। परन्तु विदेशी शासन से भी

बढ़कर वर्तमान काल के बहुतेरे भारतीय राजनीतिकों के नीच और दासोचित भाव की निन्दा करते थे। वे उनसे कहते थे कि भारत की सभी बुराइयों के लिए ब्रिटिश राज को कोसना उचित नहीं। हमे अपनी शिक्षा और सामाजिक सुधार पर आप ध्यान देना चाहिए। ये बातें तो हमारी शक्ति में है। राष्ट्रीय प्रतिभा के अनुकूल आदर्शों को पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से उन्होंने भारत के अतीत मे डुबकी लगाई। उन्होंने उपनिषदों और आर्य सभ्यता पर व्याख्यान दिए। उन्होंने मराठों, सिक्खों और राजपूतों के आत्म-विश्वास का बखान किया। "कणिक", "कथा" और "काहिनी" इन्हीं विचारों के प्रचार के लिए लिखी गई थीं।

रवीन्द्रनाथ ने जितना लिखा है उतना कदाचित् ही किसी दूसरे ने लिखा हो। परन्तु वे केवल कवि, नाटककार और उपन्यास-लेखक ही नहीं, वरन गायक, अभिनता, चित्रकार रचयिता, दर्शनिक, पत्रकार अध्यापक और वाग्मी भी थे। इन सभी विभिन्न कामों मे उन्होंने ख्याति लाभ की थी।

रवीन्द्र नाथ 'शान्ति निकेतन' को एक ऐसे विश्व-विद्यालय में परिणत करना चाहते थे; जहाँ ससार के विभिन्न देशों के लोग अपने विचारों का आदान-प्रदान कर सके। सन् १९२० मे वे फिर इँग्लेंड गये। वहाँ कुछ दिन रहने के बाद, वे योरोप के और भी कई देशों मे गये। सभी जगह उनका अपूर्व स्वागत और सम्मान हुआ। योरप से लौटकर उन्होंने ६० वर्ष की अवस्था मे, दिसम्बर सन् १९२१ को "विश्व भारती" की

स्थापना कर अपने हृदय की चिर-आकांक्षित अभिलाषा पूरी की।

अपनी लेखनी द्वारा लगातार ६७-६८ वर्ष तक मानवता की सेवा करने के बाद विश्वकवि ने संवत १९९८ विक्रमी की श्रावणी पूर्णिमा के पुण्यमय दिवस को अपनी जीवन-लीला समाप्त की। उनका जीवन ऋषितुल्य था। भारत के इतिहास में उन्हें वही स्थान प्राप्त है जो यहाँ के प्राचीन महान विचारकों दार्शनिक और कवियों को प्राप्त है।

मोहनदास कर्मचंद गांधी

(जन्म सन् १८६९)

मानव-जाति के प्रत्येक काल में ऐसी महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ प्रकट होती रही हैं, जिनको इतिहास बाद को नवीन युग के नेता बताया करता है। ऐसे मनुष्य शक्तिशाली, उद्देश्ययुक्त, भविष्यसूचक और अपने समय की प्रचलित प्रथा एवं व्यवस्था के लिए भयावह होते हैं।

ऐसी ही एक मूर्त्ति महात्मा गांधी हैं। इनका जन्म २ आक्टोबर १८६९ को पोर बन्दर नामक छोटे से रजवाडे मे हुआ था। वहाँ इनके दादा, पिता और बडे भाई दीवान थे। बाद को इनके पिता काठियावाड़ के राजकोट और वाङ्कनेर नामक रजवाड़ों के दीवान हो गये।

इनका परिवार बहुत बडा था। उसमे ये सब से छोटे थे। इनका परिवार विख्यात और प्रभावशाली तो था, पर वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि से कुछ ऊँचा नहीं था। इनके बहुत से सम-कालीन नेता ब्राह्मण या सब से पहले वर्ण के हैं, परन्तु इनका कुल घटिया या तीसरे दर्जे का है, अर्थात् ये बनिए हैं। विद्वत्ता के लिए भी इस कुल की कोई प्रसिद्धि नहीं। मोहनदास के पिता काबा गाँधी बिल्कुल अपढ थे, पर उन्हे अनुभव बहुत था। मोहनदास ने भी लण्डन विश्वविद्यालय की केवल मैट्रिक परीक्षा ही पास की है। अपनी माता पर उन्हे अगाध और अचल स्नेह था। उसके पवित्र चरित्र, उसकी स्वाभाविक बुद्धिमत्ता और

उसकी गम्भीर धर्म-भावना ने मोहनदास पर बाल्य-अवस्था से ही गहरा प्रभाव डाला था। इनके हठीले स्वभाव में इसी स्नेह के कारण कोमलता देख पड़ती है। इसी पृष्ठभूमि में इनका बाल्यकाल बीता था।

उन दिनों की प्रथा के अनुसार, इनकी मंगनी सात वर्ष की आयु में और विवाह तेरह वर्ष की आयु में हो गया था। इनकी स्त्री, कस्तूराबाई उनसे कुछ ही छोटी थी। इतनी छोटी आयु में पति बन जाने के कारण ही बाद को इन्हें दाम्पत्य जीवन से अरुचि और भय हो गया। जब यौवन की ज्वाला शान्त हो गई तो इन्होंने आत्म-नियन्त्रण के लिए ब्रह्मचर्य का व्रत धारण कर लिया। इस बात ने उनके सारे पिछले वर्षों पर रङ्ग चढ़ाया है। इनका विश्वास था कि मेरी स्त्री मेरी चीज है; मैं उसे जैसे चाहूँ ढाल सकता हूँ। परन्तु कस्तूराबाई से भी एक विशेष व्यक्तित्व और दृढ़ इच्छाशक्ति मिली थी। वे आसानी से उनके साँचे में नहीं ढल सकीं। उन्होंने सदा ही अपने विशेष गुण और स्वाधीनता को स्थिर रक्खा है।

मोहनदास का परिवार वैष्णव था। उस पर जैनधर्म का भी प्रभाव पड़ा था। इसलिए वे शाकाहारी थे। तो भी इन्होंने, अपनी जाति के नियमों को भंग करके, गुप्तरूप से कई बार मांस खाया। इनका शरीर बहुत दुर्बल था और ये समझते थे मांस से स्वास्थ्य बन सकता है। दूसरा इनकी हार्दिक इच्छा थी कि भारत एक स्वाधीन और शक्तिशाली राष्ट्र बने। वे अपने इर्द-गिर्द के दूसरे नवयुवकों की बातें सुन कर मन में सोचा करते कि अँगरेज हमारे देश में

विजेता वन कर फिर रहे हैं; उन मे दूसरों पर प्रभुता चलाने की शक्ति है; वे मांसाहारी हैं, इसलिये यदि भारत विदेशियों की दासता से निकलना चाहता है तो उसके लिये आवश्यक है कि अपने में शक्ति बढ़ाए, और इस शक्ति-वर्धन के लिए पहला पग मासाहार है। कुसंगति मे पड ये और भी अवगुण सीख रहे थे, उनको छिपाने के लिए जानबूझ कर इन्हे झूठ बोलना पड़ता, चोरी भी करनी पड़ी, जिसके लिए इनकी अतरात्मा ने इन्हें कोसा, तव इन्होने एक दिन पिता जी को चिट्ठी लिख कर अपना दोप स्वीकार किया। चिट्ठी पढ़ कर क्षमाशील पिता के आँखों से आँसू निकल आये। उन आँसुओं ने इन्हे जीवन भर के लिए इन सब दोषों से वचा दिया।

गांधी जी अपने को वार-वार सत्यार्थी कहते है। इन्होंने सत्य की खोज मे यह वात सीखी है कि सत्य एक आत्मा की अवस्था है, वह अपने से वाहर का कोई गुण या प्राप्त की हुई नैतिक वस्तु नहीं, मानव मे जो देवत्व है यह उसी का सारॉश है। यद्यपि गांधी जी अपने चारों ओर कपट एव असत्य को देखते थे, और जानते थे कि वड़े वड़े सत्ताधारी और प्रभुता वाले लोग झूठ वोलने को कोई बुराई नहीं समझते, तो भी वे वाद को कभी असत्य भापण के प्रलोभन में नहीं फँसे, चाहे कई अवसरों पर झूठ वोलने से उनको वड़ा भारी लाभ हो सकता था और निन्दा का भी डर न था।

गांधी जी को चिकित्सा के प्रति सदा वड़ा प्रेम और झुकाव रहा है। सत्रह वर्प की आयु मे, जव उनके परिवार वालों ने

आपस में मंत्रणा करके उनको कानून पढ़ने के लिए इंग्लैंड भेजने का निश्चय किया तो उन्होंने प्रार्थना की कि मुझे कानून के बजाय चिकित्सा-शास्त्र पढ़ने की अनुमति दी जाय। परन्तु उन्हें इसकी अनुमति नहीं मिली। इसलिए उन्होंने कई प्रकार की प्राकृतिक चिकित्सा का अध्ययन करके तथा अपने आप पर और अपने मित्रों एवं संबंधियों पर उसका प्रयोग करके अपनी इच्छा को पूर्ण किया उनके कुछ प्रयोगों ने तो बड़ा चमत्कार भी दिखलाया था, शायद उतना चिकित्सा के कारण नहीं, जितना कि उनके द्वारा तन-मन से की गई सेवा-शुश्रूषा के कारण।

इसका एक उदाहरण दक्षिण अफ्रीका में प्लेग के दो रोगियों को चंगा करना है। उस समय बीस और मनुष्य भी प्लेग से पीड़ित थे। उनकी डाक्टरी चिकित्सा कराई गई थी। पर वे सब मर गए। दूसरा उदाहरण उनकी अपनी पत्नी का है। अधेड़ आयु में उन्हें रक्त की कमी (अनीमिया) का रोग हो गया था। डाक्टर ने कहा कि दूसरी विशेष चिकित्सा के अतिरिक्त यदि ये मॉस-रस नहीं लेंगी तो इनका रोग शान्त नहीं होगा। पर रोगी ने मांस-रस लेने से इनकार कर दिया। इस पर डाक्टरों ने उनका चिकित्सा करना छोड़ दिया। अब गांधी जी की प्राकृतिक चिकित्सा आरम्भ हुई। थोड़े ही दिन में रोगी का स्वास्थ्य सुधरता दीख पड़ा। चिकित्सा जारी रखी गई और रोगी चंगा हो गया।

विद्याध्ययन के लिए विलायत भेजने के पूर्व गांधी जी की माता ने एक जैन साधु के सामने उनसे ये तीन प्रतिज्ञाएँ ली थीं—

मैं सुरापान नहीं करूँगा। मैं परस्त्री-गमन नहीं करूँगा। मैं मांस नहीं खाऊँगा। विलायत मे अनेक प्रबल प्रलोभन होने पर भी उन्होंने इन प्रतिज्ञाओं का पालन किया।

इंग्लैंड में आरम्भ में उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। उन्हे घर याद आता था। इस से वे दुखी रहते थे। लोग, घर, रहन-सहन, भाषा और सबसे बढ़ कर भोजन—वहाँ की सब चीजें अनोखी थीं। वे स्वदेश के लिए तरसने लगे। परन्तु कष्टों से डर कर घर लौट आना कायरता था इसलिए वे कष्ट सहते हुए वहीं ठहरे रहे। अपनी प्रतिज्ञा को भङ्ग होने से बचाने के लिए वे कई बार निराहार रह जाते थे। धीरे धीरे उनका दिल लग गया, कुछ मित्र भी बन गए, इन्होंने अध्ययन आरम्भ कर दिया और शिष्ट समाज के कुछ कथित गुण सीख लिए। उन्होंने अपना वेश भी पूरी तरह से बदल लिया।

उन्होंने नृत्य सीखने का यत्न किया। परन्तु ताल-स्वर की कुछ समझ न होने से, छोड़ दिया। उन्होंने वायोलिन सीखने का भी यत्न किया, परन्तु सीख न सके। इसलिए गज और सारङ्गी रख दी। उन्होंने आहार-शास्त्र पर भी मनोयोग दिया। परन्तु केवल शाक और फलों के आहार पर ही। फिर वे इंग्लैड और दक्षिणी अफ्रीका मे शाकाहार के बडे भारी प्रचारक बन गये।

गांधी जी के जीवन के इन प्रारम्भिक वर्षों के अध्ययन से उनके बाद के विकास को समझना सरल हो जाता है। हम उनमें वे सब बीज देख सकते हैं जो बाद को पूर्ण रूप से फूल उठे।

उनका प्रचण्ड सत्यानुराग, मातृभूमि की स्वतंत्रता की कामना सादी वस्तुओं और सादा लोगों से प्रेम, पवित्रता वरन् तपस्या का अनुराग, प्रचण्ड साहस और शान्त नैतिक बल—ये सब किसी बड़े कार्यक्षेत्र में अपने को उचित रूप से अभिव्यक्त करने के लिए उनके भीतर हाथ पैर मार रहे थे।

उनके कानूनी अध्ययन के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने ईमानदारी के साथ काम किया, पाठ्य पुस्तकों को पढ़ा, और इनर टेम्पल से बैरिस्टरी की उपाधि प्राप्त की। परन्तु बाद को भारतीय भद्र-अवज्ञा के आन्दोलन में इन के दण्डित हो जाने से, वह उपाधि इनसे छीन ली गई। उन्होंने अपने पुनर्प्रतिष्ठापन के लिए कभी प्रार्थना नहीं की। कानून पास कर लेने के बाद वे भारत लौट आए। बम्बई पहुँचने पर उन्हें अपनी माता की मृत्यु का पता लगा। यह समाचार उनको पहले इसलिए नहीं दिया गया था ताकि विदेश में अकेले होने से वे कहीं अधिक उदास न हो जाँय। माता के देहान्त से उन्हें बहुत दुःख हुआ। उनके शोक को बढ़ाने के लिए एक और भी घटना हो गई। विदेश-यात्रा करने के कारण उन की बिरादरी वालों ने उनको जाति-बहिष्कृत कर दिया। यद्यपि उन्होंने "शुद्धि" संस्कार कराया तो भी उनको बिरादरी में नहीं लिया गया। इस बहिष्कार से उनके मन में कोई रोष का भाव उत्पन्न नहीं हुआ, वरन् उनको ज्ञान हो गया कि जाति-बंधन कितना बनावटी है। वे जात-पाँत के घोर विरोधी हो गये। बाद को उन्होंने अपने छोटे पुत्र श्री देवदास का विवाह

मद्रास के श्री राजगोपालाचार्य (ब्राह्मण) की कन्या से किया।

कुछ संकोच और चिन्ता के उपरान्त, उन्होंने बम्बई के न्यायालयों में प्रेक्टिस आरम्भ कर दी। उनका पहला मुकद्दमा उनके लिए एक परीक्षा थी—उनके ज्ञान एवं योग्यता की उतनी नहीं जितनी कि उनके साहस की। जनता में बोलने से उन्हें सदा डर लगा करता था। अब उन्हें मुकद्दमा पेश करना पड़ा। न्यायाधीश के सामने केवल घटनाओं को रखना भी उन्हें दूभर हो गया। वे बोलने के लिए उठे, परन्तु उनका मुँह सिल सा गया। उन्होंने अदालत से अपने लिए इस अभियोग को छोड़ने की आज्ञा माँगी और लज्जा एवं सन्ताप में डूबे हुए कचहरी से उठकर घर चले आये। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं स्वेच्छानुसार अपने शरीर और मस्तिष्क से काम लेना न सीख लूंगा तब तक अदालत में नहीं जाऊँगा। परन्तु उनके परिवार की आर्थिक दशा ऐसी न थी कि वे अलग हट कर वकालत की कला सीखते। वे धन कमाने के लिए बाध्य हो गए और राजकोट में वापस आकर अपने भाई के छोटे से कानूनी व्यवसाय में सहायता देने लगे। वहीं उनके पहले बच्चे का जन्म हुआ। परन्तु गांधी जी कोल्हू के बैल का जीवन बिताने के लिए नहीं बने थे। उनके भीतर से शीघ्र ही उन्हे आगे चलने का आदेश मिला।

महापुरुषों के पिछले जीवनों पर दृष्टिपात करने में बड़ा आनन्द मिलता है, हम देखते है कि ऊपर से तुच्छ दिखाई देने वाली परिस्थितियों किस प्रकार उनको अपने हाथ में लेकर इष्ट

उद्देश्य की ओर ढकेलती हैं। वे प्रायः विश्व के खिलाड़ी के हाथ में खेलते प्रतीत होते हैं; परन्तु खिलाड़ी खेल का अन्त जानता है, खिलौना तो केवल उस प्रेरणा की आज्ञा का पालन करता है, जो बहुधा उसे अंधाधुन्ध आगे को ढकेलती जान पड़ती है।

अब गांधीजी के यौवन का पहला महान काल, सन् १८९३ से सन् १९१४ तक, आरम्भ होता है। उनके आत्म-सम्मान पर थोड़ी सी चोट लगी; पोरबन्दर में उन्हें निराशा हुई। दक्षिण अफरीका के प्रजातंत्र में भारतीय फर्म का एक महत्त्वपूर्ण अभियोग चल रहा था, उसकी पैरवी के लिए उनके सामने एक वर्ष के लिए दक्षिण अफरीका जाने का प्रस्ताव आया, बस भाग्य के मार्ग पर उन्होंने पहला पग रख दिया।

दक्षिण अफरीका और वहाँ की समस्याओं का उन्हें कुछ भी ज्ञान न था। उनकी राजनीतिक बुद्धि का अभी तक विकास नहीं हुआ था। वहाँ भारतीयों की क्या स्थिति है, इसका विचार उन्होंने कभी नहीं किया था। उनके मवक्किल धनाढ्य थे। इस लिए गांधीजी ने शायद सोचा होगा कि दक्षिण अफरीका धन-धान्य और सुख-शान्ति से परिपूर्ण कोई स्वर्ग है।

सन् १८९३ में वे डर्बन पहुँचे। उन्हें वहाँ उत्तम और शिष्ट व्यवहार पाने की आशा थी। यद्यपि वे भारत में भी जातिगत गर्व की बानगी देख चुके थे, परन्तु उसका पूरा स्वाद और गोरों द्वारा काले भारतीयों के अपमान का यथार्थ रूप उन्हें दक्षिण अफरीका मे आने पर ही ज्ञात हुआ। वहाँ रेल का पहले दर्जे का टिकट खरीदने पर भी भारतीयों को तीसरे दर्जे मे सफर करना

पड़ता था। घोड़ागाड़ियों में भी भारतीय गोरों के साथ न बैठ सकते थे, उन्हें पायदान के ऊपर बैठना होता था। होटल में भी भारतीय ठहर न सकते थे। फुटपाथ पर भारतीय चल न सकते थे। रात के नौ बजे के बाद बिना परवाने के वे घर से न निकल सकते थे। मुकद्दमे का काम समाप्त हो चुकने पर, उन्होंने नटाल और उसके पड़ोसी प्रजातंत्र मे अपने देश-बंधुओं के इन कष्टों और बाधाओं का अध्ययन किया। लोगों ने उनको डर्बन मे ही ठहर कर उनके कष्टों के निवारण और उनकी सामाजिक स्थिति के सुधार में सहायता देने की प्रार्थना की।

गांधीजी ने उनकी बात मान ली। परन्तु एक शर्त रक्खी। उन्होंने कहा कि मैं सार्वजनिक काम के लिए तो कोई पैसा नहीं लूँगा, किंतु आप लोगों को यदि मेरी वकालत की योग्यता मे विश्वास हो तो आप मेरी प्रेक्टिस में मेरी सहायता करें। जब तक वे दक्षिण अफरीका मे रहे और जब तक उन्होंने अपने देश की सेवा में अपना सारा समय अर्पण कर देने के लिए सन् १६०८ में प्रेक्टिस नहीं छोड़ी, उनके देश-बंधुओं का उनमें पूर्ण-विश्वास बना रहा। वे सदा अपनी कमाई का कुछ अंश दान में और भारतीय समाज की सार्वजनिक आवश्यकताओं के लिए देते रहे।

अपने कानूनी व्यवसाय के संबंध में वे कहते हैं:—"मैंने अनुभव किया कि वकील का सच्चा काम दो फटे हुए दिलों को मिला देना है। यह शिक्षा मेरे हृदय पर ऐसे अमिट रूप से खुद गई थी कि मेरी बीस वर्ष की प्रेक्टिस का अधिकांश सैकड़ों

मुकद्दमों के प्राइवेट समझौते कराने में ही बीता। इससे मुझे कुछ भी हानि नहीं हुई—न रुपए की और न आत्मा की।"

सन् १८६० की बात है। दक्षिण अफ़रीका को मजदूरों की भारी आवश्यकता थी। मजदूरों के अभाव से वह देश नष्ट होने जा रहा था। तब मद्रास, बिहार, और संयुक्त प्रान्त से बहुत से शर्तबंद मजदूर वहाँ भेजे गये थे। ये अधिकतर हिन्दू ही थे। इनके बाद इनकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए गुजराती मुसलमान व्यापारी गये। भारतीय मजदूरों ने उस देश को नष्ट होने से बचा दिया। इन कुलियों के कारण वहाँ सभी भारतीय 'कुली' कहलाते थे। यहाँ तक कि वहाँ के गोरे बैरिस्टर गांधी को भी "कुली वकील" कहते थे।

कालान्तर में इन लोगों में से कुछ मनुष्य दक्षिण अफरीका के प्रजातंत्र राज्य में घुस गये। कुछ तो व्यवसाय-स्पर्धा के कारण और कुछ वर्ण के पक्षपात के कारण वहाँ के गोरों ने इनका घोर विरोध किया। उन्होंने इनको रोकने के लिए "एशियाटिक विरोधी" कानून बना दिए और भारतीयों को नागरिक अधिकार देने से इनकार कर दिया। जब वहाँ की सरकार ने प्रवासी भारतीयों को वहाँ व्यापार करने का अधिकार देने से इनकार किया तो प्रिटोरिया-स्थित ब्रिटिश एजण्ट ने भारतीयों को परामर्श दिया कि वे व्यापार-करने का लायसेंस लेने के लिए फीस दे दें और यदि फिर भी उनको लायसेंस न मिले तो बिना लायसेंस लिए ही व्यापार करना आरम्भ कर दें। बाद

को जब वहाँ की सरकार ने बिना लायसेंस लिए व्यापार करने के कारण भारतीयों पर मुकद्दमे चलाने की धमकी दी, तो ब्रिटिश एजण्ट ने इस परामर्श का हार्दिक समर्थन किया कि व्यापारी लोग न जमानत दें और न जुर्माना, वरन् जेल चले जायँ।

गांधी जी ने इस अन्याय के विरुद्ध बहुत आन्दोलन किया। परन्तु कुछ फल न हुआ। वरन् शीघ्र ही वहाँ एक भारतीय-विरोधी आन्दोलन प्रबल रूप से खड़ा हो गया। अफ्रीका-प्रवासी भारतीयों ने सन् १८९६ में गांधी जी को भारत भेजा ताकि वे उनके कष्ट भारत-सरकार को बताएँ। अगले वर्ष जब गांधी जी लौट कर अफ्रीका पहुँचे तो वहाँ के गोरों ने समझा कि वे भारत से बहुत से कारीगर ले कर आए हैं और ये कारीगर गोरे कारीगरों की आजीविका छीनेंगे। बस फिर क्या था। वहाँ एक बहुत बड़ा उपद्रव खड़ा हो गया। बड़े भारी दल ने गांधी जी को घेर लिया। वे उन्हें उस दिन समाप्त कर देते, यदि एक पुलिस आफिसर, चतुराई से, उनको कान्स्टेबल के कपड़े पहना कर भगा न देता।

सन् १८९९ में जब बोअर युद्ध आरम्भ हुआ तो गांधी जी ने एक इण्डियन एम्बुलेंस कोर बना कर अंगरेजों की सहायता की। उस रोगी-घायल-सेवा-दल के मुखिया गांधी जी थे। इस के लिए इनका बाद को बड़ा बखान हुआ और इनको पदक मिले। सन् १९०१ में गांधीजी स्वास्थ्य-सुधार के लिए भारत लौट आए। कुछ मास उपरांत ब्रिटिश बोअर झगड़े का स्थायी निपटारा

करने श्री चेम्बरलेन दक्षिण अफरीका गये। इस पर प्रवासी भारतीयों ने उनके सामने अपना मामला पेश करने के लिए गांधी जी को भारत से फिर अफरीका बुला लिया ताकि समझौते में उन्हें भी नागरिकता के अधिकार मिल सकें। परन्तु सफलता नहीं हुई।

भारतीय प्रवासियों के बचे-खुचे नागरिक अधिकारों के हड़पे जाने से बचाने के लिए गांधी जी ने "ट्रांसवाल ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन" की स्थापना की और कई प्रबल प्रार्थना-पत्र भेजे। प्रचार के लिए गांधी जी ने "इण्डियन ओपिनियन" नाम का एक साप्ताहिक पत्र भी निकाला। गांधी जी पर रस्किन लिखित "अण्टू दिस लास्ट" नामक पुस्तक के विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने बाइबिल के "पर्वत पर उपदेश," भगवद्गीता और टालस्टाय की पुस्तकों का भी अध्ययन किया था। इसके फलस्वरूप उन्होंने डर्बन के निकट "फीनिक्स" नाम की एक बस्ती बसाई थी। वहाँ वे सरल जीवन और हिन्दू-मुस्लिम एकता का पाठ पढ़ाते थे।

सन् १९०६ में नटाल के मूल-निवासियों ने विद्रोह कर दिया। तब भी गांधी जी ने सरकार की बड़ी सहायता की। उधर ट्रांसवाल गवर्नमेण्ट ने एक कानून बनाया कि सब प्रवासी भारतीय, क्या स्त्री, क्या पुरुष, रजिस्ट्रेशन का सार्टिफिकेट लेने के लिए आवेदन-पत्र दें और उस सार्टिफिकेट पर प्रार्थी की सब उँगलियों का निशान होगा। इस अपमानजनक आज्ञा के विरुद्ध गांधी जी के नेतृत्व में प्रवासी भारतीयों ने सत्याग्रह किया। गांधी जी

विलायत गये। फल यह हुआ कि सम्राट ने इस अनुचित कानून को अस्वीकार कर दिया।

इसको प्रवासी भारतीयों ने अपनी बड़ी विजय समझी। परन्तु ट्रांसवाल की गोरी प्रजा में इस से रोष फैल गया। पास में ही केप कालोनी को दायित्वपूर्ण गवर्नमेण्ट मिल गई। इस नई गवर्नमेण्ट ने पहला काम यह किया कि उस अस्वीकृत कानून को दुवारा पास कर दिया। इसको सम्राट की स्वीकृति भी मिल गई। तब महात्मा गांधी के नेतृत्व मे एक वार फिर सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ हुआ। वाद को समझौता हो गया कि भारतीय स्वेच्छापूर्वक रजिस्ट्रेशन करा लें।

कुछ प्रवासी भारतीय अनिवार्य और स्वेच्छापूर्वक उँगलियों के निशान देने का अन्तर नहीं समझ सके। वे गांधीजी से बहुत बिगड़े। यहाँ तक कि जब गांधीजी उँगलियों के निशान देकर अपनी रजिस्टरी कराने गये तो मीर आलम-नामक एक पठान ने जो पहले उनका साथी था, उनके सिर पर ऐसे जोर से डंडा मारा कि वे अचेत होकर गिर पड़े और मुश्किल से मरने से बचे।

परन्तु वहाँ की गवर्नमेंट ने फिर धोखा दिया। उसने "काले कानून" को रद्द करने से इनकार कर दिया। इस पर स्वेच्छापूर्वक लिए हुए सार्टिफिकेटों की होली जलाई गई और जुलाई १९०८ में फिर से निष्क्रिय प्रतिरोध का आन्दोलन चलाया गया। यह आन्दोलन सन् १९१४ तक सुलगता रहा। सन् १९१४ मे वह काला कानून कुछ रद्द हो गया।

सन् १९१५ में गांधी जी अफरीका से भारत लौट आये। यहाँ आकर उन्होंने एक वर्ष तक सारे देश का भ्रमण किया। विदेश में उनके कार्य और त्याग को देखकर भारतीय प्रजा अब उनका बहुत सम्मान करने लगी। कुछ लोग तो उन्हें लोकोत्तर प्राणी समझने लगे। इस लिए अब वे "महात्मा" कहलाने लगे।

भ्रमण की समाप्ति पर महात्मा जी ने अहमदाबाद के निकट साबरमती के तट पर एक आश्रम बनाया। वह आश्रम सब वर्णों और सब धर्मों के लोगों के लिए खुला था। वहाँ गांधी जी अपने सिद्धान्तों के अनुसार सरल सामूहिक जीवन के प्रयोग करते थे। कई सवर्ण हिन्दू परिवार वहाँ आकर रहने लगे। एकदिन कुछ अछूतों ने भी आश्रम-प्रवेश की प्रार्थना की। महात्मा जी ने अपने साथियों से मंत्रणा की। निश्चय हुआ कि उनको प्रविष्ट कर लिया जाय। इस पर सवर्ण हिन्दू सेठों ने आश्रम को आर्थिक सहायता देना बंद कर दिया। तब महात्मा जी ने आश्रम छोड़कर के मुहल्ले में रहने का निश्चय किया इतने में किसी ने गुप्त सहायता भेज दी जिससे आश्रम टूटने से बच गया।

चम्पारन में गोरे लोग नील की खेती कराते थे। रैयत को उनके विरुद्ध बहुत सी शिकायतें थीं। वे उनको दूर नहीं करते थे। किसानों और मजदूरों ने महात्मा जी से सहायता माँगी। महात्मा जी वहाँ गये। गोरों ने उनको भी तंग करना चाहा। परन्तु महात्मा जी की अपील पर वायसराय ने बीच में पड़कर किसानों का समझौता करा दिया। इस से महात्मा जी की प्रसिद्धि और भी बढ़ गई।

इसी प्रकार अहमदाबाद के मिल-मालिकों और मजदूरों मे झगड़ा था। मिल-मालिक कठोरता करते थे। गांधी जी ने उनको समझाया। पर वे माने नहीं। इस पर उन्होंने व्रत ले लिया कि जब तक मिल-मालिक मजदूरों के उचित कष्टों को दूर नहीं करेंगे, मैं अन्न ग्रहण नहीं करूँगा और अपने प्राण दे दूँगा। दूसरों के पापों और भूलों के लिए आप कष्ट भोगने का यह ढंग "सत्याग्रह" कहलाता है। इस का जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा। मिल-मालिकों को मजदूरों की शर्तें माननी पड़ी। इसी के बाद ही इन्हें खेड़ा-सत्याग्रह का नेतृत्व लेना पड़ा।

उन दिनों योरोप का महासमर चल रहा था। वायसराय ने गाँधी जी से सहायता माँगी। गांधी जी ने उसे स्वीकृत कर लिया। पर रंगरूटों की भरती के लिए जो प्रस्ताव था उस पर वायसराय की सभा मे भी वे हिन्दुस्तानी में बोले और रंगरूटों की भरती में इन्होंने पर्याप्त योग दिया।

महासमर का अंत हुआ। भारत आशा करता था कि महासमर में की गई सहायता का फल मिलेगा। परन्तु उसके विपरीत 'रौलट एक्ट' नामक काले कानून से भारतीयों की स्वतंत्रता को और भी नष्ट किया जाने लगा। इस पर गांधीजी ने देशव्यापी सविनय अवज्ञा और शान्तिमय असहयोग का आंदोलन चलाया। कांग्रेस की बागडोर इनके हाथों मे आई। इन्होंने देशवासियों को विदेशी सरकार से असहयोग करने और विदेशी वस्तुओं का त्याग करने तथा स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने विशेष कर हाथ का कता-बुना कपड़ा पहनने को कहा। इनसे

देश में जाग्रति फैल गई। लाखों आदमियों ने खद्दर पहनना शुरू कर दिया। हजारों भारतीय इनके कहने से सन् १९२१, १९२२ में जेल गये। यरवदा जेल इनका घर ही बन गया।

महात्मा जी हिन्दू-मुस्लिम एकता और अछूतोद्धार के बड़े पक्षपाती हैं। इन दोनों कामों के लिए वे सदा यत्नवान रहते हैं। सन् १९२४ में इन्होंने दिल्ली में हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए अनशन भी किया था। इसी वर्ष ये कांग्रेस के प्रधान बनाए गये थे। भारत की दरिद्रता को देख कर इनके हृदय पर बड़ी चोट पहुँचती है। भारतीय ग्रामवासी प्रायः आधे नंगे रहते हैं। इसलिए ये भी एक लंगोटी और चादर में रहते हैं। इन्होंने देखा कि किसान आधे से अधिक समय खाली रहते हैं। यदि ग्रामोद्योगों का चलन हो तो उन्हें कुछ काम मिल सकता है। इसलिए इन्होंने "ग्रामोद्योग संघ" की स्थापना की जो कि ग्रामों में बनी वस्तुओं का प्रचार करता है। देश की निर्धनता को दूर करने के लिए वे स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार पर बल देते हैं और प्रत्येक व्यक्ति के लिए दिन-रात में कुछ न कुछ समय चर्खा कातना अनिवार्य मानते हैं। खद्दर के प्रचार के लिए इन्होंने "अखिल भारतीय-चरखासंघ" नाम से एक संस्था की स्थापना की।

१९३० में इन्होंने नमक-कानून तोड़कर सत्याग्रह अंदोलन द्वारा प्रारंभ किया। वे समझते हैं कि नमक-कर दरिद्र जनता पर बड़ा भारी अत्याचार है। इसको रद्द कराने के लिए उन्होंने अहिंसात्मक युद्ध करने का निश्चय किया। वे नमक बना कर कानून तोड़ने के लिए, सन् १९३०

में, पैदल चल कर अपने कुछ साथियों सहित समुद्र के किनारे डाँडो नामक स्थान पर पहुँचे। सरकार ने उनको गिरफ़्तार कर के कैद कर दिया। बहुत से लोगों ने उनका अनुकरण किया। शीघ्र ही समूचे देश मे भद्र-अवज्ञा का आन्दोलन फैल गया। ३ मार्च १९३१ को गांधी-इरविन समझौता हो जाने से यह आन्दोलन शान्त हो गया। इन्होंने दंडी-यात्रा से पहले प्रण किया था कि स्वराज्य नहीं मिला तो या तो रास्ते में मर जाऊँगा या आश्रम के बाहर रहूँगा। इसलिए गांधी जी तब से साबरमती नहीं गये, वर्धा के पास सेगाँव मे रहने लगे और वर्धा तथा सेगाँव तब से राजनीतिक तीर्थ-स्थान बन गये, भारत के राजनीतिक निर्णय वहीं होने लगे।

दूसरी गोल मेज कान्फ्रेंस मे महात्मा गाधी कांग्रेस के एक-मात्र प्रतिनिधि हो कर लन्दन गये। वहां खद्दर की लंगोटी और चादर ओढ कर वे बकिङ्घम पैलेस मे सम्राट पंचम जार्ज से मिले थे। उन्होंने वहाँ कान्फ्रेस के काम मे बहुत कम योग दिया। बहुत सा समय तो वे पाश्चात्य जगत को अपनी "अहिंसा" का ही संदेश सुनाते रहे।

गोलमेज़ कान्फ्रेस से वापिस आते ही वे फिर गिरफ़्तार हो गये। देश में फिर आंदोलन चला। इधर तीसरी गोल मेज़ कांफ्रेस में भारतीय नेता सहमत न हो सके कि हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख और अछूत जातियों को कितना कितना प्रतिनिधित्व मिले। इसलिए प्रधान-मंत्री ने "साम्प्रदायिक बँट-वारा" विघोषित कर दिया। इसमे अछूतों को सवर्ण हिन्दुओं से

जानकर अलग रक्खा गया था। महात्मा जी तब जेल में थे उन्होंने इसे हिन्दू-समाज का अंग-भंग समझा। उन्होंने "आमरण अनशन व्रत" ले लिया और कहा कि जब तक अछूतों को हिन्दुओं के साथ नहीं रक्खा जायगा, मैं अन्न ग्रहण नहीं करूँगा। इस से डर कर हिन्दू नेताओं ने अछूत-नेताओं के साथ समझौता कर लिया और महात्माजी ने व्रत छोड़ दिया।

इसके बाद महात्मा जी राजनीति की अपेक्षा सामाजिक और आर्थिक सुधार में अधिक समय देने लगे।। आजकल वे यद्यपि कांग्रेस के चार आना सदस्य भी नहीं, तो भी उनकी सम्मति बिना वहाँ पत्ता भी नहीं हिल सकता। जब भिन्न भिन्न प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने, तब प्रत्येक मंत्री इनसे आदेश प्राप्त करता था। इनके कहने पर ही सबने एक साथ त्यागपत्र दे दिये। महात्माजी ने हाल में अँगरेजों को भारत छोड़ जाने के लिए कहा है। अपनी बात को मनवाने के लिए वे अहिंसात्मक योजनाएँ तैयार कर ही रहे थे कि गवर्नमेंट ने उनको और उनके साथियों को गिरफ्तार कर लिया है।

कांग्रेस का नेतृत्व, असहयोग अंदोलन, खद्दर प्रचार और हरिजन-उद्धार के अतिरिक्त गांधी जी का सब से बड़ा काम सारे भारत में एक राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार करना है। आज सुदूर, मद्रास तक हिन्दी का प्रचार दिखाई देता है वह इनके ही प्रयत्नों का फल है।

गाँधीजी का अपनी मातृभूमि पर और संसार की घटनावली पर कितना प्रभाव है, यह अन्तिम रूप से कूतना अभी कठिन

है। परन्तु यह निर्विवाद है कि उनके प्रताप से आज जितनी राष्ट्रीय भावना भारत मे जागरित हुई है उतनी उनके पहले कोई दूसरा नेता नहीं कर सका। सारे देश मे जितना इनका मान है उतना कोई नेता नहीं पा सका। भारतीय इन्हें अवतार या रक्षक समझते हैं। अनेकों विदेशी भी इनके मित्र और शिष्य है। लंडीखाना से कन्याकुमारी, और कराची से कटक तक भारत में शायद ही कोई ऐसा शहर या गाँव हो जहाँ इन गांधी बाबा का नाम न पहुँचा हो, या जो एक बार 'महात्मा गाधी की जय' के नारो से गूँज न उठा हो। कई लोग उनको एक अद्भुत पहेली, और मूर्तिमान असंगति समझते हैं। उनकी सूक्ष्म युक्तियाँ बहुधा दुर्बोध और दंग कर देने वाली होती हैं। परन्तु उनके साहस, उनके उद्देश्य की उच्चता, उनके आदर्श की उज्ज्वलता, उनके गम्भीर देशानुराग, उनके आचरण की पवित्रता और उनके व्यक्तिगत त्याग की प्रशंसा सारे ससार को करनी पड़ेगी।
